ओ३म्

योगी का आत्म चरित्र एक षड्यन्त्र है

ऋषि दयानन्द के जीवन पर एक खोजपूर्ण पुस्तकः



स्वामी दयानन्द सरस्वती

लेखकः स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती

ओ३म्

योगी का आत्म चरित्र एक षड्यन्त्र है

ऋषि दयानन्द के जीवन पर एक खोजपूर्ण पुस्तकः



लेखकः

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती

अशुद्धियां निवारण

पृष्ठ सं०	पंक्ति	लिखा	पढ़े
६	ऊपर से तेरहवीं	लिखने चलाने को	लिखने को
७	ऊपर से तीसरी	डा. नीरुत्तम	डा. वीरोत्तम
९	ऊपर से छठी	निमें	जिनमें
१५	ऊपर से सातवीं	बागपद	बागपत
१५	ऊपर से सोलहवीं	स्वामी स्वतंत्र नन्द	स्वामी स्वतन्त्रानन्द
१५	ऊपर से अठारहवीं	स्वामी स्वतन्त्रानन्द	स्वामी स्वतन्त्रानन्द
१६	नीचे से आठवीं	बागपद	बागपत
१८	ऊपर से चौथी	सम्मक	सम्यक
१८	नीचे से सातवीं	पटापेक्ष	पटाक्षेप
१९	ऊपर से पहली	शास्त्रर्थ	शास्त्रार्थ
१९	ऊपर से चौथी	शास्त्री तज्जौर, मद्रास	शास्त्री-तंजौर
२१	ऊपर से तेरहवीं	डी.ए.वी.	डी.ए.वी.-तंजौर, मद्रास
२१	नीचे से तीसरी	लाल	लाला
२२	नीचे से पहली	सेय वैंदिक	से या वैदिक
२२	ऊपर से छठीं	गवेशकों	गवेषकों
२३	नीचे से दूसरी	तलीवा लिये	तली पर लिये
२४	नीचे से ग्यारहवीं	कोई ठोस	कुछ ठोस
२५	नीचे से छठीं	समाज के दोनों	समाज ने दोनों
२५	नीचे से दूसरी	अर्या समाज	आर्य समाज
२६	नीचे से सातवीं	अज्ञात जीवने	अज्ञात जीवनी
३१	नीचे से पांचवीं	शंका समाधान	शंका समाधान
३१	नीचे से तीसरी	महिर्षि	महर्षि
४२	नीचे से तेरहवीं	दीनबन्द	दीनबन्धु
४५	ऊपर से प्रथम	जापत्र	जो पत्र
६१	ऊपर से सातवीं	बैठन कठिना	बैठना कठिन
६१	ऊपर से सत्तरहवीं.	ओर	और
६४	ऊपर से तेरहवीं	साध	साधु

पृष्ठ सं०	पंक्ति	लिखा	पढ़े
६५	नीचे से पहले	ओर	और
७६	नीचे से तीसवीं	महाषियों	महर्षियों
७६	ऊपर से पंद्रहवी	लिकालने	निकालने
८३	ऊपर से ग्यारहवीं	१९५९	१८५९
१०१	ऊपर से ग्यारहवीं	के 13 अध्याय	के 13वें अध्याय
१०२	ऊपर से तेरहवीं	एतज्ञान मिनि	एतज्ञान मिति
१०२	ऊपर से पंद्रहवीं	लध्वासी	लध्वासी
१०५	ऊपर से छठीं	भगवद्च्चिन्तन	भगवद्चिन्तन
१०६	ऊपर से तेरहवी	सुनते हैं। अंग्रेज	सुनते हैं-अंग्रेज
१०७	नीचे से सातवीं	गंगाधर राव के बालक	गंगाधर राव ने बालक
१२१	ऊपर से आठवीं	कुमार सिंह	कुंवर सिंह
१२३	ऊपर से दसवीं	Counssellion	Counsellor
१३१	ऊपर से पहली	मौजद	मौजूद
१३२	नीचे से पांचवीं	सन् १९५९	सन १८५९
१५९	नीचे से तीसरी	बजीर	वजीर
१५९	ऊपर से तीसरी	बजीर	वजीर
१७२	नीचे से पांचवीं	जा यह कहा	जो यह कहा
२१९	ऊपर से ग्यारहवीं	बलिक	बल्कि
२२१	ऊपर से तेरहवीं	पितृ गृह	पितृगृह
२२५	नीचे से दूसरी	दीन बन्ध	दीन बन्धु
२२८	नीचे से नौवी	त्राटक कहते हैं से आगे-	नासिका में सूत्र डालकर मुख से निकालने को नेती कहते हैं।
२२९	ऊपर से दसवीं	योग याधना	योग साधना
२३५	ऊपर से सोलहवी	विपर्यय	विपर्य
२३७	ऊपर से पंद्रहवी	वेद पन्थी	वेद पन्थी

ओ३म्

योगी का आत्म चरित्र

एक षड्यन्त्र है

ऋषि दयानन्द के जीवन पर एक खोजपूर्ण पुस्तक:

लेखक:

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती

आर्य समाज बड़ौत

जिला मेरठ (उ० प्र०)

सम्पादक:

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

प्रकाशक:

वेदप्रकाश

आर्य नगर बड़ौत

प्रकाशनः
वेदप्रकाश
आर्य नगर बड़ौत
मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करणः श्रवणी पर्व २०३८ वि०
द्वितीय संशोधित संस्करण २०६९ वि०

मूल्य : 125/- रुपये

पुस्तक प्राप्ति केन्द्र :
डॉ॰ वीरोत्तम तोमर
डी-8, आदर्श नगर, मेरठ (उ॰प्र॰)
फोन : 0121-2665900, मो॰ 09837071782
email : veerottam@gmail.com

मुद्रक :
राधा प्रेस, कैलाश नगर दिल्ली-31

पंडित पूर्णचन्द्र आर्य

(सन्यासोपरान्त स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती)



13 मार्च, 1900 - 20 दिसम्बर, 1985

लेखक का संक्षिप्त जीवन परिचय

भारतीय एवं वैदिक धर्म के -

सच्चे सन्देश वाहक "श्री पं० पूर्णचन्द्र आर्य"

(स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती)

पं० पूर्णचन्द्र आर्य का जन्म 13 मार्च सन् 1900 को बागपत जिले (पूर्व मेरठ) के ग्राम बूढ़पुर में चौ. लज्जाराम के परिवार में हुआ था। यह परिवार अपनी देशभक्ति व वैदिक सिद्धान्तों के लिए पिछली शताब्दी से इस क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान रखता रहा है। पंडित पूर्णचन्द्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बड़ौत जाट वैदिक स्कूल में हुयी। एस.एल.सी. की परीक्षा उन्होंने मेरठ कालेज से उत्तीर्ण की। पंडित जी का विवाह सन् 1925 में श्रीमती यशोदा देवी से हुआ। परिवार में तीन पुत्र, बड़े स्व. श्री यशोवर्धन शास्त्री (पूर्व प्रधानाचार्य सरूरपुर, खेड़की), श्री वेद प्रकाश तोमर (पूर्व चकबन्दी अधिकारी व भाजपा नेता), स्व. डा. शिवराज सिंह तथा एक पुत्री श्रीमती शकुन्तला हुए। श्री पूर्णचन्द्र जी ने लाहौर ब्रह्म महाविद्यालय से उपदेशक की उपाधि ली तथा वहां रहकर भारत के शीर्ष क्रांतिकारियों एवं स्वतन्त्रता सेनानियों के सम्पर्क में रहे। उनके जीवन का मुख्य मोड़ आता है सन् 1921 में जब उनका चयन पुलिस सब इंस्पेक्टर जैसे रौबीले पद पर हो गया तथा कृषक परिवार को आजीविका का अच्छा सहारा मिल गया, परन्तु महात्मा गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन की अग्नि आपसे अछूती न रही और आपने साबरमती आश्रम जाकर गांधी जी के चरणों में बैठकर देश सेवा तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति की सौगन्ध ली और अंग्रेज सरकार की पुलिस की नौकरी को लात मार दी, तत्पश्चात पूरा जीवन राष्ट्र सेवा, आर्य समाज व वैदिक सिद्धान्तों के लिये न्यौछावर कर दिया। सन् 1921 में आपको 3 मास की कैद, 1931 में नमक कानून तोड़ने पर 10 माह का सश्रम कारावास झेलना पड़ा। 1937 तथा 1944 में हैदराबाद सत्याग्रह में जोर शोर से हिस्सा लिया। हरियाणा की जींद तहसील से सौ सत्याग्रहियों का जत्था लेकर वहां आन्दोलन किया व जेल गये। कश्मीर में 1948 में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने आपको हिन्दुओं का मनोबल बढ़ाने हेतु वहाँ भेजा। पंडित जी करीब नौ भाषाओं के ज्ञाता थे तथा वैदिक

साहित्य पर पूरी पकड़ थी, कुरान, गीता उन्हें कंठस्थ याद थी। कुरान के ऊपर व्याख्या करने वाला उस वक्त आर्य समाज में आप के अलावा दूसरा नहीं था।

1950-1960 के दशक में पं. पूर्णचन्द्र आर्य जी का मेरठ की ऐतिहासिक बुढ़ाना गेट आर्य समाज से गहरा सम्बन्ध रहा है। पंडित पूर्णचन्द्र जी उपदेशक के रूप में अपने पाण्डित्य की छाप यहाँ छोड़ते गये, दूर-दूर से आर्यजन उनकी निर्भीक, ओजस्वी एवं विलक्षण वाणी सुनने यहाँ आया करते थे। यहीं रह कर उन्होंने ब्रह्मकुमारी समाज के खिलाफ एक जन आन्दोलन का भी नेतृत्व किया था। यहीं से आपने आर्य स्त्री समाज बुढ़ाना द्वार के प्रयास से एक पत्रक "ब्रह्मकुमारियों के षड्यन्त्र से सावधान" छपवाकर इलाके में बंटवाया तथा ब्रह्मकुमारी समाज के संस्थापक लेखराज का चिठ्ठा खोला।

राष्ट्र-सेवा व परोपकार की जो सौगन्ध खायी उसके बदले उन्होने कभी राजनीतिक इच्छा जाहिर नहीं की। कई बार बागपत जिले के विधानसभा प्रत्याशी बनाने की कांग्रेस की इच्छा को नकार दिया तथा अपने प्रिय मित्र चौ. चरण सिंह जी जो उन्हें अग्रज की भांति सम्मान देते थे, को बागपत क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्थापित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आप छूआछूत व जात-पात के घोर विरोधी थे। हरिजन उत्थान के लिए लगातार प्रयासरत रहते थे। गांव में दलितों को अपने कुएं पर पानी भरने की इजाजत दिलवा रखी थी। शुद्धि आन्दोलन के रूप में आप द्वारा किया गया प्रयास जिसमें जिवाना गुलियान के एक मुस्लिम परिवार को शुद्ध कर अपने परिवार की बेटी से शादी की और आज यह परिवार पूर्ण रूप से सम्पन्न है। पंडित जी की करनी व कथनी में कोई लेशमात्र का भी अन्तर नहीं था। क्षत्रिय परिवार में पैदा होने पर भी इनकी विद्धता तथा पाण्डित्य से प्रभावित होकर सब ने आपको पंडित जी की उपाधि दी। आपने पूरा जीवन स्वामी दयानन्द के आदर्शों पर चलते हुए 17 जनवरी, 1971 को जनता वैदिक इन्टर कॉलिज के विशाल प्रांगण में हजारों लोगों के सम्मुख चौ. चरण सिंह जी की अध्यक्षता में स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती जी से सन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती कहलाये। सन्यास आश्रम में रहते हुये आपने अपना पूरा समय अध्ययन, चिंतन व लेखन में लगा दिया।

जहां भी आपको वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत बातें पता चली आपने तुरन्त अपनी लेखनी उठा ली। पहली पुस्तक उन्होंने बरनावा के पाखण्डी कृष्णदत्त ब्रह्मचारी की पोल खोलते हुये लिखी ''पोल प्रकाश'', दूसरी आधुनिक वैज्ञानिक कसौटी पर सिद्ध, ''वृक्ष जीवधारी है''। तीसरी शोधात्मक पुस्तक ''योगी की आत्मचरित्र एक षड़यन्त है'' लिखी, जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर श्री दीनबन्धु शास्त्री, आनन्द स्वामी एण्ड कम्पनी द्वारा रचित पुस्तक ''योगी का आत्मचरित्र'' कोरी बकवास व पाखण्ड साबित होती है। चौथी पुस्तक हैं ''मानव शरीर और जीवात्मा'' कुछ अन्य अप्रकाशित पुस्तकें जैसे ''मुसलमान भाईयों से बिरादराना अपील'' एवं ''दयानन्द व उनका योग'' तथा ईसा की मृत्यु का रहस्य भी है।

पं. पूर्णचन्द्र आर्य (स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती) जी ने अपना पूरा जीवन वैदिक सिद्धान्तों पर चलते हुये 20 दिसम्बर सन् 1985 को अन्तिम सन्देश देते हुए कहा ''ऋषि दयानन्द जी महाराज के बताये रास्ते पर चलना'' तथा ओ३म का उच्चारण करते करते चिर निद्रा में विलीन हो गये।

आज भी इस आर्य परिवार की पाँचवी पीढ़ी भी देशभक्ति, समाज सेवा व आर्य परम्पराओं को पल्लवित व पोषित कर रही है। परिवार ने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी के साहित्य को पुनः आर्य जगत के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है इस पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार प्रसार से ऋषि दयानन्द के पावन जीवन की सुरक्षा हो सकेगी।

सम्पादकीय

चालीस वर्ष से ऊपर समय हो गया जब कोलकाता के पं. दीनबन्धु जी शास्त्री ने बड़ी चतुराई तथा सूजबूझ से महर्षि दयानन्द जी के पवित्र चरित्र को प्रदूषित करने का एक षड्यन्त्र रचकर साप्ताहिक 'सार्वदेशिक' में एक लेखमाला आरम्भ कर दी। तब श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले इस सभा के सर्वेसर्वा थे। मैंने भी दीनबंधु के दो चार लेखों पर विहंगम दृष्टि डाली तो मुझे लगा कि यह 'अज्ञात जीवनी' तो एक नया पुराण है। ये सारी सामग्री गप्पों का एक रोचक संग्रह है।

उन्हीं दिनों मेरे मान्य मित्र प्रो. जयदेव जी आर्य ने इस लेखमाला के विषय में मेरी सम्मति जानने के लिये मुझे पूछा, "क्या 'सार्वदेशिक' में दीनबंधु जी की लेखमाला ऋषि दयानन्द जी की अज्ञात जीवनी कुछ पढ़ी है?आपका इस लेखमाला के बारे क्या मत है?"

मैं पुराण नहीं पढ़ सकता: मैंने छूटते ही कहा, "हाँ कुछ दृष्टि डाली तो है परन्तु, मैं इस माला को एक भी लेख पूरा नहीं पढ़ सका। मेरे संस्कार विचार ही ऐसे है। कि मैं पुराणों का पढ़ने में तथा गप्पों के पढ़ने में समय नष्ट नहीं कर सकता। मुझे ऐसी बातों में अत्यधिक अरुचि है। यह भी एक नया पुराण है। यह ऋषि मिशन के लिए एक घातक षड्यंत्र है।"

महाशय कृष्णजी का वह लेख : मुझे तब पत्रकार शिरोमणी महाशय कृष्ण जी का एक लेख याद आ गया जिसमें महाशय जी ने यजुर्वेद के एक मन्त्र का यह आशय उद्धृत किया था कि परमात्मा हमें देवों के पापों से बचाओ। मूढ़ और सामान्य व्यक्ति देश व समाज को इतनी क्षति नहीं पहुँचा सकता जितना विद्वान् तथा नेता लोगों की नीति रीति व करनी। नेहरू जी की एक भूल से आज तक लाखों भारतीय

जवान कश्मीर में अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं। भारतीय सेना को आगे न बढ़ने का आदेश देकर तथा कश्मीर का केस संयुक्त राष्ट्र सभा में ले जाकर इस समस्या को ऐसा उलझा दिया गया कि कभी युद्ध और कभी घुसपैठ........... जवान जानें देते जा रहे हैं।

षड्यन्त्रकारियों की लम्बी श्रृंखला

महर्षि के जीवन पर वार प्रहार करते हुए देवगुरु भगवान-सत्यानन्द अग्निहोत्री, जीयालाल जैनी आदि ने बड़े षड्यन्त्र रचे। ऋषि की कल्पित जन्म पत्री तक तैयार करके छपवा दी गई। प्रि. श्रीराम शर्मा तक ऐसे षड्यन्त्रकारियों की बहुत लम्बी कहानी है। एक बार पं. विश्वबन्धु शास्त्री होशियारपुर वाले ने कानपुर से महर्षि के नकली (जाली) पत्र तक प्रकाशित करवा दिये। आर्य समाज के विद्वानों ने ये सब षड्यन्त्र विफल कर दिये।

पं. दीनबन्धु था क्या? : पं. दीनबन्धु आर्यसमाज से भी जुड़ा हुआ था और ब्रह्मसमाज का भी उपदेशक व निष्काम सेवक था। इस विद्वान् देव पुरुष के षड्यन्त्र को, ऋषि जीवन को प्रदूषित करने के पाप को हर कोई तो समझ नहीं सकता था। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज जैसा कोई ऊँचा विद्वान् और ऋषि जीवनी का मर्मज्ञ ही इस षड्यन्त्र का भाण्डा फोड़ कर सकता था। वैदिक सिद्धान्तों तथा इतिहास के मर्मज्ञ पूज्य स्वामी पूर्णानन्द जी ने जब इस अज्ञात जीवनी' की पोल खोलने के लिए अपनी लेखनी उठाई तो मैंने भी श्रद्धेय स्वामी जी के लेख सुरुचि से पढ़े। फिर मान्य डा. भवानीलाल जी भारतीय ने भी लेख पर लेख देकर पाखण्ड खण्डन किया।

मैंने षड्यन्त्र की उपेक्षा की : मुझे भी आर्य जनता ने इस पर लेखनी चलाने का बहुत अनुरोध किया परन्तु, मेरा यह कहना था कि इससे दीनबन्धु के इस पुराण को अनावश्यक महत्व (Publicity) मिलेगी।

में पूज्य स्वामी जी और श्रीमान भारतीय जी के साथ था। कभी कुछ संकेत रूप में लिख देता। व्याख्यानों में भी इसकी पोल खोलता रहा परन्तु इसकी उपेक्षा करने की नीति अपना कर चलता रहा। तभी योगी सच्चिदानन्द सा सिद्धहस्त कलाकर भी दीनबन्धु के सहयोग में मैदान में उतर आया। उसने चार सौ पृष्ठों का एक सचित्र ग्रन्थ 'योगी का आत्मचरित्र' रचकर अपने जैसे कई योगियों से वाह! वाह!! लूट ली। उनके पश्चात् योगी जी का पुत्र तथा भोपाल की वेदघाती जोड़ी के ऋषि निन्दक, वेद निन्दक आदित्यपाल सिंह ने मिलकर योगी जी के पुराण से भी एक बड़ा पुराण रचकर जनता की जेब पर अच्छा डाका डाला।

लाला रामगोपाल जी ने चाहा: उसी कालखण्ड में (1976-77) के आसपास श्री लाला रामगोपाल जी ने मान्य डा0 भवानीलाल जी भारतीय के एतद्विषयक लेखों की भर्त्सना करते हुए मुझे उनकी लेखमाला के विरोध में लिखने चलाने को कहा। मैं उनका कथन सुनकर दंग रह गया "क्या मैं गप्पों की पुष्टि करूँ? असत्य कथन से सत्यव्रतधारी बालब्रह्मचारी, वेदवेत्ता ऋषि को महिमा मण्डित करना चाहते हो? मैं स्वामी पूर्णानन्द जी तथा भारतीय जी के दृष्टिकोण से सहमत हूँ। पाखण्ड का खण्डन करके वे कुछ भी बुरा नहीं कर रहे।"

मेरा कथन सुनकर लालाजी निराश तो अवश्य हुए परन्तु चुप कर गये। सार्वदेशिक के सर्वेसर्वा को पाखण्ड भा गया है यह जानकर मैं बहुत व्यथित रहा।

इस संस्करण के प्रकाशन का विचार: अब पुनः कुछ सन्तों व सेठों की सहायता से एक नये भक्त ने जब फिर से योगी सच्चिदानन्द का पुराण छपवा दिया तो श्री सत्येन्द्रसिंह आर्य, डा0 वेदपाल जी तथा मेरे जैसे कई ऋषि भक्तों के मन में यह विचार आया कि स्वामी पूर्णानन्द जी लिखित 'योगी का आत्मचरित्र एक षड्यन्त्र' पुस्तक का एक बढ़िया

संस्करण प्रकाशित किया जाये। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी का पूरा परिवार उच्च शिक्षित, प्रतिष्ठित सम्पन्न तथा दृढ़ ऋषि भक्त हैं। उनके सुपुत्र श्री वेदप्रकाश आर्य तथा उनके पौत्रों डा. नीरुत्तम जी तथा डा. पुरुषोत्तम जी ने भी स्वामी जी के साहित्य का जीर्णोद्धार करने का संकल्प किया। उनके प्रयास से इस पुस्तक के मुद्रण दोष दूर करके, टाईप साज सज्जा सब बदलकर नये नये उपशीर्षक शीर्षक तथा सम्पादकीय टिप्पणियां देकर इसे और उपयोगी बनाने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है।

पुस्तक के आरम्भ में: श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने पुस्तक के आरम्भ में श्री महात्मा आनन्दस्वामी जी की रणवीर लिखित जीवनी की भी बहुत बड़ी तथा तार्किक समीक्षा की है। श्री आनन्द स्वामी में कई गुण थे। सेवाभाव भी था परन्तु, वह अपने पुत्र रणवीर से अत्यधिक दबे हुए थे। यह रणवीर ने स्वयं ही लिखा है। उनको कोई भी दबा सकता है और जो चाहे कहलवा सकता था, यह रणवीर ने पिता की जीवनी में आप ही लिखा है। महात्मा जी की पुस्तकों में उनके पुत्र की बहुत चर्चा पाई जाती है। व्याख्यानों में भी उसी का उल्लेख किया करते थे। उसके मोहपाश में वह जकड़े हुए थे। मैंने उन्हें एक बार कहा था, 'रणवीर आपकी जीवनी न लिखता तो अच्छा होता। कोई और लिखता। इसमें आपकी समाज सेवा की उचित चर्चा नहीं है।"

महात्मा आनन्दस्वामी जी के चमत्कार: मेरी बात सुनकर वह अपने स्वभावनुसार बस मुस्करा दिये। रणवीर ने स्वामी जी के चमत्कार गिनाने व घडने में पूरा कौशल दिखलाया है। उपन्यासकार कहानीकार तो वह था ही। उसे आर्यसमाज से लेशमात्र भी प्रेम नहीं था। मांसाहार का प्रबल समर्थक तथा सिग्रट खूब पीता था। श्री महात्मा आनन्द स्वामी के योगगुरु ने उनकी टांग के आर पार कील निकाल दिया इस विषय में हरियाणा के कुछ लोगों ने एक बार उनसे एक प्रश्न पूछ लिया। महात्मा जी के उत्तर से श्री रणवीर की इस मनगड़न्त कहानी या चमत्कार की

पोल खुल गई। क्योंकि 'योगी का आत्म चरित्र' की समीक्षा से पहले स्वामी पूर्णानन्द जी ने महात्मा आनन्द स्वामी जी की जीवनी की भी शव परीक्षा की है सो इस विषय में हमें भी कुछ लिखना पड़ा है।

स्वामी पूर्णानन्द जी ने एक एक झूठ पकड़ा: स्वामी पूर्णानन्द जी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से दीनबन्धु तथा सच्चिदानन्द जी के लेखों व पुस्तक का अध्ययन करके बात बात में उनके षड्यन्त्र व झूठ पर अपनी लेखनी चलाई है। इन लोगों ने हेरफेर, हटावट और मिलावट सब कुछ किया है। इनके नये दूत श्री आदित्यपाल सिंह ने तो ऋषि की कल्पित जन्म तिथि देकर अपनी रिसर्च की धौंस ज़माने का प्रयास किया। जीयालाल जैनी की मनगड़न्त जन्मपत्री वाली तिथि देकर आर्यों को मूर्ख बनाने का पाप किया। हमने जीयालाल वाली पत्री की प्रतिछाया छपवाकर इसकी तस्करी भी आर्यों को दिखादी है। ऋषि ने अपने गृहत्याग आदि घटनाओं का जो समय (सम्वत्) लिखा व कहा उसमें भी इस कम्पनी के इस नये भागीदार ने अदलबदल करके महर्षि पर असत्यभाषण का दोष मढ़ने का विरोधियों को एक हथियार दिया है।

यही कुछ दीनबन्धु तथा सच्चिदानन्द योगी ने किया है। 'आर्य दर्पण' में सन् 1880 में ऋषि के जीवन काल में ही यह छप गया था कि श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ऋषि दयानन्द के विरुद्ध आयोजित की गई 'आर्य सन्मार्ग संदर्शिनी सभा की आर्य धर्म तथा ऋषि के विरुद्ध दी गई व्यवस्था का 'बदिलो जान' (जी जान से) सहर्ष समर्थन करते हुए उस पर हस्ताक्षर कर दिये। उन्हीं ईश्वरचन्द्र जी विद्यासागर की प्रशंसा में ऋषि के मुख से जो कुछ दीनबन्धु तथा योगी जी ने ऐसी-2 बातें कहलवाई है। जिन्हें पढ़कर हृदय रोता है। ये सब बातें इतिहास का मुँह चिढ़ाने जैसा कुकृत्य है। योगी जी ने तो पुस्तक का आरम्भ ही ईश्वरचन्द्र जी के संवाद से किया है। यह भी क्या विडम्बना है कि जो ईश्वरचन्द्र (योगी जी के कथनानुसार) ऋषि को एक योगी योगेश्वर मानकर उनसे योग साधना के

अनुभव व रहस्य जानना चाहता है, वह सात वर्ष पश्चात् ऋषि के विरोध में खड़ा दिखता है। वाह रे 'परममित्र' !

झूठ पर झूठ गढ़ते गये: इस सच्चिदानन्द महाराज मण्डली ने ऋषि के मुख से तत्कालीन ब्रह्मसमाजी नेताओं की इतनी प्रशंसा करवाई है, मानों कि कोई दरबारी भाट बोल रहा है। जब कोलकाता मे सैकड़ों पण्डितों ने (निमें बहुत से बंगाल से ही थे) ऋषि का पक्ष सुने बिना उनके विरुद्ध व्यवस्था दी, तब इनमें से किसी ने भी इस अन्याय के इस धांधली के विरुद्ध एक भी शब्द न कहा और न लिखा। इस कम्पनी की सब पोथियों में इन पुराणकारों ने पण्डित महेशचन्द्र न्यारत्न का भी जी भर कर स्तुति गान किया है। श्रीयुत देवेन्द्रनाथ जी तथा महर्षि के सब जीवनी लेखक एक स्वर से यह कहते हैं "इस सभा के नेता पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न थे।" दीनबन्धु ने अपने कुकृत्य से नेताजी सुभाषचन्द्र बसु के बंगाल के यश को धूमिल करने की एक और उल्लेखनीय बात एक बार प्रसिद्ध विद्वान् पं0 मदनमोहन जी विद्यासागर ने मुझे इसी विषय में कहा था कि अंग्रेज सरकार की व्यवस्था तथा गुप्तचर विभाग की दक्षता बेजोड़ रही है। योगी सच्चिदानन्द व दीनबन्धु ने ऋषि को देश भर में सब छावनियों में घुमा दिया, उनको धूने पर भी बिठा दिया। क्या सार्वजनिक जीवन में देश भर में विचरण करते हुए उस लम्बे चौड़े तेजस्वी ब्रह्मचारी को किसी गोरे अथवा भारतीय गुप्तचर ने नहीं पहचाना? वेद प्रचार अभियान चलाते हुए ऋषि मेरठ, फीरोज़पुर, लाहौर, अम्बाला, लखनऊ आदि छावनियों में भी घूमे। क्या वहाँ किसी ने यह कहा कि यह तो वही 1857 के विप्लव वाले विद्रोही महात्मा हैं?

इस कम्पनी ने वीर सावरकर जी के ग्रन्थ का बड़ा दोहन किया है। न जाने उनके नाम पर क्यों कोई ऐसी गप्प नही गढ़ी जा सकी कि वीर सावरकर भी बताया करते थे कि लण्डन में ऋषि की विद्रोह विषयक पर्याप्त सामग्री व सरकारी रिपोर्ट मैंने देखी थी। भाई परमानन्द जी ने भी

1857 की क्रान्ति पर पर्याप्त खोज की। वे एक जाने माने इतिहासकार थे। जिन बातों की गंध भाई जी को न लगी, इन पुराणकारों को समाधि में वह सब कुछ दिखाई दे गया।

इनका एक क्रूरतम कर्म देखिये: रविवार के दिन क्रान्ति को आरम्भ करने का उपदेष्टा भी ऋषि जी को बनाया गया है। क्यों? तब अंग्रेज लोग चर्च जाते हैं। उनके स्त्री बच्चों सबकी हत्या करना बड़ा आसान होगा। इन लाल बुझकड़ों को कौन बताये कि सेना तथा पुलिस आदि तो रविवार को भी On Duty कार्य पर डटे रहते हैं। ऋषि के चरित्र हनन का यह एक निकृष्टतम प्रयास है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि पतञ्जलि योग की दुहाई देने वाला एक योगी सत्य अहिंसा को रौंदता हुआ महर्षि पर यह कलंक लगाता है।

इतिहास भूगोल सबको धूल चटा दी: श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने कोलकाता जाने पर ऋषि के आतिथ्य से मुख फेर लिया फिर 'ऋषि जी को अपने निवास पर रुकने की विनती की जिसे महाराज ने अस्वीकार कर दिया। यह इतिहास योगी जी भूल गये। यात्रायें करवाने लगे तो Road map और भूगोल भूल गये। हठयोग की दीक्षा देने लगे तो गढ़मुक्तेश्वर की शव-परीक्षा वाली घटना भूल गये कि तब ऋषि ने क्या कहा था।

देश भर के ऋषि भक्तों का जी भर कर तिरस्कार: स्वामी पूर्णानन्द जी ने एक गम्भीर प्रश्न उठाया है कि इस कम्पनी ने बंगाल के नेताओं के बारे तो बहुत बखान करवा दिया, क्या शेष देश के लोगों के नाम, काम व सेवा सब कुछ ऋषि भूल गये। तथ्य यह है कि ऋषि एक संन्यासी थे। वे न मान पाकर इतराये और न ईंट, पत्थर खाकर और विषपान करके घबराये-लड़खड़ाये।

कहानी गड़ने का नाम इतिहास नहीं है: ये लोग रानी झाँसी की एक सहचरी (उनके पति की दूसरी पत्नी) भी कहीं से खोज लाये।

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने अपने अकाट्य तर्कों व तथ्यों से इस गप्प की भी धज्जियाँ उड़ा दीं।

वे सन्स्कृतज्ञ कौन थे? प्राणवीर पं. लेखराम जी तथा गुणी गम्भीर विचारक व गवेषक देवेन्द्र बाबू लिखते हैं कि कलकत्ता में महर्षि दयानन्द के उपदेशों व व्याख्यानों को श्री केशवचन्द्र सेन की देखरेख में प्रकाशित व प्रसारित करने का निर्णय हुआ था परन्तु ऐसा एक भी ट्रैक्ट न छपा। क्यों? 'अज्ञात जीवनी' का एक षड्यन्त्र रचने वाले इस चुभन वाले तथ्य को तो पी गये और ऋषि के व्याख्यानों के प्रकाशन का आश्वासन देकर पीछे हटने वालों की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए गप्पों का भव्य् भवन खड़ा कर दिया।

ये लोग अपने पुराण में बार-2 यह दोहराते हैं कि श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ने ऋषि की अज्ञात जीवनी लिखवाने के लिए संस्कृत के कुछ विद्वानों को नियुक्त किया। ऋषि जी तब संस्कृत ही बोलते थे परन्तु, यह आज तक उन लिपिकार विद्वानों के नाम तक नहीं बता सके। ये कितनी बड़ी ठगी है।

बंगाल की घनी सियानी दीमक: आचार्य विश्वश्रवा जी ने ला. दीपचन्द आर्य को कहा कि मेरा पुराना मित्र आचार्य राजेन्द्रनाथ (योगी सच्चिदानन्द)कलकत्ता से जो अज्ञात जीवनी की पाण्डुलिपि लाया है, वह उसके दर्शन मुझे नहीं करायेगा आप किसी प्रकार से उसको वह कागज़ दिखाने को कहें। कई बार हम लोग पुराने जीर्णषीर्ण कागजों पर कुछ लिखकर लोगों को भ्रमित करते हैं कि यह पुरानी पाण्डुलिपि है। ला. दीपचन्द जी ने ऐसा ही किया उन्हें दीमक के खाये एक कागज पर कुछ लिखा हुआ दिखाया गया। जहाँ जहाँ कागज़ को दीमक ने खा रखा था, वहाँ एक भी शब्द लिखा न पाया। कोई शब्द कटा हुआ व दीमक द्वारा खाया न पाकर ला. दीपचन्द ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा, बंगाल की

दीमक कितनी सूझबूझ वाली है कि इसने सारे पृष्ठ में कोई वाक्यांश अथवा शब्द नहीं खाया। जहां कुछ लिखा नहीं, वहीं वहीं कागज को दीमक ने चाटा है। इसका कारण? इस पर योगी जी ने कागज़ परे हटाकर कहा, बस आप आर्यसमाजी लोग इसे नहीं समझा सकते। बातें ही बनाते हैं। यह घटना आचार्य विश्वश्रवा जी ने श्री डा. ज्वलन्त जी को सुनाई थी।

एक लेख में आचार्य जी ने लिखा था कि कोलकाता आर्यसमाज में राजेन्द्रनाथ जी ने 'मान सरोवर की यात्रा' नाम की एक पुस्तक से हिमालय के सब स्थानों व मार्गों की जानकारी लेकर अज्ञात जीवनी को चटपटा Colourful बनाने की चतुराई दिखाई। विद्वान् तो वह थे ही।

योगी का 'आत्मचरित्र एक षड्यन्त्र' पुस्तक के लेखक देशधर्म के एक तपे हुए योद्धा, स्वतन्त्रता सेनानी, बहुभाषाविद् ज्ञानी ध्यानी, विद्वान् महात्मा थे। वह लौह पुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज तथा स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ जैसे ज्ञानसमुद्र महापुरूषों के सुशिष्य थे। दक्षिण के गेरीबाल्डी पं. नरेन्द्र जी हैदराबाद तथा पं. शांतिप्रकाश शास्त्रार्थ महारथी के गुरुभाई थे। वह कथनी करनी के धनी थे। उन्होंने देश जाति को उच्चशिक्षित सुसंस्कृत सन्तान दी। उनके श्रेष्ठ और तपोनिष्ठ जीवन का यह ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होंने अपने जन्म स्थान से अति दूर चविण्डा (जिला स्यालकोट) तथा निजाम स्टेट के मराठवाडा क्षेत्र में देश धर्म की सेवा के लिए डेरा डाला। भारत के एक पूर्व प्रधानमन्त्री चौधरी चरणसिंह उन्हें पूज्य दृष्टि से देखते थे। देश जाति के लिए उनकी सतत् साधना की कहानी बड़ी लम्बी है।

उनकी इस उत्तम कृति को प्रकाश में लाने के लिए मुझे भी सेवा करने का एक अवसर मिला है, यह मेरा सौभाग्य है। आर्यजगत् के मूर्धन्य विद्वान डा. वेदपाल जी तथा आर्य विचारक श्री सत्येन्द्रसिंह जी के सहयोग व मार्गदर्शन के बिना पुस्तक का यह संस्करण इतना उपयोगी व आकर्षक न बन पाता। पं. पूर्णचन्द्र जी आर्य (स्वामी पूर्णानन्द) के पूरे

परिवार ने विशेषरूप से उनके सुपुत्र श्री वेदप्रकाश जी आर्य की सेवा सहयोग व श्रद्धा के लिए तो कुछ कहने में लेखनी अक्षम है। फ़ारसी में एक कहावत है, 'खामोशी मानिये दारद कि दर दागुफ्तन नमे आयद।

अर्थात् मौन के अर्थ बोल कर नहीं बताये जा सकते।

श्री सत्येन्द्रसिंह जी के मेरे श्री गुणग्राहक जी तथा श्रीमती वेद 'जिज्ञासु' के प्रयास पर भी कुछ मुद्रण दोष रह गये होंगे। गुणियों के सुझाने पर इन्हें अगले संस्करण में सुधार दिया जायेगा।

वेद सदन नई सूरज नगरी,
अबोहर-152116

विनीत
राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

ओ३म्

किञ्चन्प्रास्तविकम्

-डॉ. वेदपाल, अध्यक्ष संस्कृत विभाग (से.नि.)
जे.वी. (पी.जी.) कालेज बड़ौत (बागपत)

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय पुनर्जागरण की शताब्दी है। धार्मिक सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टि से यह काल अति महत्वपूर्ण है। महर्षि दयानन्द का आगमन उन्नीसवीं शदाब्दी की महत्वपूर्ण घटना है। महर्षि ने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से अभूतपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात किया, जिससे धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जगत अनेक रूढ़ियों से मुक्त होकर अलौकिक आभा से दीप्त हो उठा।

स्ववंश परिचय के विषय मे महर्षि ने उसी आत्मगायन प्रवृत्ति का आश्रयण किया है जिसे संस्कृत के प्रख्यात कवि एंव विद्वान प्रायः अपनाते रहे हैं। महर्षि ने स्वकथित आत्म चरित्र में अपना संक्षिप्त परिचय दिया, जिससे आगे चलकर महर्षि के चरित लेखकों को महर्षि के मूल वंश, परिवार परिचय, जन्म स्थान आदि की खोज में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । पं. लेखराम आर्य मुसाफिर तथा देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय सदृश मनीषियों ने बहुमूल्य समय लगाकर अनेक कष्ट सहन करते हुए महर्षि जीवन चरित विषयक सामग्री संकलित की। इसी सामग्री के आधार पर अनेक जीवन चरित प्रकाश में आये। महर्षि द्वारा अपने पूर्व कुल जीवन आदि का पूर्ण प्रकाश न किए जाने के कारण परवर्ती लेखकों के कारण अनेक ऋषि भक्त भी पं. दीनबन्धु के कल्पना जाल से ग्रसित होकर उस जीवन चरित के प्रशंसक भी हुए हैं किन्तु आर्य समाज एवं महर्षि जीवन के प्रति गवेषणापूर्ण दृष्टि सम्पन्न डॉ. भवानी लाल भारतीय,

श्री सत्येन्द्र सिंह आर्य (मेरठ) तथा स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती (पूर्व नाम पं. पूर्ण चन्द्र आर्य, महोपदेशक, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने तो 'योगी का आत्मचरित एक षड्यंन्त्र' है - नामक प्रकृत गन्थ का प्रणयन कर पं. दीनबन्धु की कृति को तर्क तुला पर ही तोलने का काम नहीं किया अपितु इससे उत्पन्न भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न कर दिया। ग्रन्थ विषयक चर्चा से पूर्व स्वामीजी महाराज का संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त रहेगा-

गंगा-युमना के उर्वर दोआब-मेरठ जनपद (वर्तमान में बागपद जनपद) के बूडपुर ग्राम के सम्भ्रान्त कृषक चौ. लज्जाराम के यहाँ 13 मार्च सन् 1900 ईसवी को बालक - पूर्णचन्द्र का जन्म हुआ। सन् 1920 ई. में एस.एल.सी की परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ ही पुलिस विभाग में सब इंसपैक्टर पद पर आपकी नियुक्ति हो गई। किन्तु 1921 ई. में असहयोग आंदोलन में पुलिस की सेवा छोड़कर आप मातृभूमि की सेवार्थ आप जेल चले गये। जेल से छूटने के पश्चात् संस्कृत एवं वैदिक वाड्मय के अध्ययन के लिए आप दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर में चले गये। पं. चमूपति जी के सन्निध्य में आपमें शोधवृत्ति उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् आर्य जगत के तपस्वी सन्त स्वामी स्वतंन्त्रनन्द जी महाराज के सान्निध्य में श्रीमद्दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर से सिद्धान्त भूषण किया। स्वामी स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के सान्निध्य में महर्षि दयानन्द एवं वैदिक सिद्धान्तों के प्रति अविचल श्रद्धा ने जो स्थान ग्रहण किया वह आपके जीवन में पदे-पदे परिलक्षित होता है। सिद्धान्तों के साथ समझौता करना तो मानो आपके शब्दकोश में ही नहीं रहा।

राष्ट्र के प्रति आपकी सेवाओं के सन्दर्भ में, उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित "स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक का निम्न अंश उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा-

"श्री पूर्णचन्द्र जी आर्य ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर

पुलिस सब इन्सपैक्टर का पद छोड़कर असहयोग आन्दोलन में भाग लिया और सन् 1921 में तीन मास की सजा पायी। सन् 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में बागपत तहसील के डिक्टेटर बने। पकड़े गये और 10 मास कैद की सजा पायी। आपके दो भाई भी रष्ट्रीय आन्दोलन में जेल गए।'' पृष्ठ-58

पं. पूर्णचन्द्र जी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के आदेश पर सन् 1937 में हैदराबाद आर्य समाज के प्रचार के लिए गए। लगभग एक वर्ष आपने वहां पर प्रचार किया। हैदराबाद सत्याग्रह में आप जींद (हरियाण) से एक सौ सत्याग्रहियों का नेतृत्व करते हुए निजाम सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिए गए तथा एक वर्ष का सश्रम कारावास देकर आपको औरंगाबाद जेल भेज दिया गया। सन् 1944 में पुनः आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा हैदराबाद प्रचारार्थ भेज दिए गए। आपके राष्ट्रवादी विचारों से तिलमिलाकर 'रहबरे दक्कन' (हैदराबाद से प्रकाशित मुस्लिम दैनिक पत्र) ने आपको पकड़कर जेल में बन्द करने की मांग की। निजामशाही ने आपको सभा में भाषण देते हुए गिरफ्तार कर 24 घण्टे में रियासत से बाहर निकालकर पुनः हैदराबाद राज्य में प्रवेश प्रतिबन्धित कर दिया गया।

शुद्धि आन्दोलन में भी प्र. पूर्णचन्द्र जी ने सक्रिय एवं सार्थक योगदान किया है। संक्षेप में एक घटना उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा। मेरठ जनपद (अब बागपद जनपद) में जिवाना गूलियान में किसी समय इस्लाम स्वीकार कर चुके मूले जाट पुनः शुद्ध होकर वैदिक धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार थे, परन्तु समस्या थी उनके पुत्रों के विवाह की। जबकि ऐसे परिवारों की पुत्रियों का विवाह करने के लिए तथाकथित हिन्दू तैयार थे किन्तु अपनी पुत्री उन परिवारों में कोई नहीं देना चाहता था। इस बाधा के कारण अनेक च्यक्ति चाहते हुए भी वैदिक धर्म में वापिस नहीं आ रहे थे। पंचायत में आपने (पं. पूर्णचन्द्र जी ने) अपने पिता चो. लज्जाराम जी को तैयार किया कि वह अपने परिवार से पुत्री का

विवाह शुद्ध हुए परिवार में करने को तैयार हो जाएं तो यह बाधा समाप्त होकर शुद्धि का कार्य सम्पन्न हो सकेगा। परिणामत: चौ. लज्जाराम जी की घोषणा मात्र से ही (परिवार की प्रतिष्ठा एवं वचनबद्धता के प्रभाव से) वह शुद्धि का कार्य सम्पन्न हुआ और आज वह सभी लोग वैदिकध र्मी हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व इस प्रकार सम्मानित परिवार द्वारा पुत्री का विवाह इस प्रकार किया जाना कोई साधारण घटना नहीं थी।

पं. पूर्णचन्द्र जी के बड़े सुपुत्र स्व. यशोवर्धन शास्त्री इण्टरमीडिएट कालेज के प्रधानाचार्य रहे। मध्यम सुपुत्र वेद प्रकाश तोमर चकबन्दी विभाग से A.S.O.C पद से सेवा निवृत्त हैं। तृतिय सुपुत्र स्व. डॉ. शिवराज चिकित्सक के साथ ही प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता रहे हैं। आपके सुपौत्र विजयेन्द्र I.A.S अजयेन्द्र इंजीनियर, डॉ. वीरोत्तम तोमर M.D वरिष्ठ चिकित्सक तथा डॉ. पुरुषोत्तम कृषि विश्वविद्यालय में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। पण्डित जी के सद्वृत्त का ही यह सुफल है कि तीसरी पीढ़ी तक यह परिवार महर्षि दयानन्द एवं वेद के प्रति उसी निष्ठा से युक्त है।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित आश्रम व्यवस्था के पालनार्थ मुनिवृत्ति का अनेक वर्षों से आचरण करते हुए भी पं पूर्णचन्द्र जी ने 71 वर्ष की वय में 18-7-1971 को जनता वैदिक इण्टर कालेज बड़ौत में सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। सन्यास आश्रम में आप स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के रूप में विख्यात हुए।

पं. दीनबन्धु जी ने योगी का आत्मचरित्र में अनेक अतथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किए हैं। यह विवरण महर्षि जीवन की यथार्थ घटनाओं का ख्यापक न होकर अलीक मान्यताओं की स्थापना करते हैं। यथा पं. दीनबन्धु जी 'योगी का आत्मचरित' पृष्ठ 242 पर लिखते हैं- ''बंगाल की शिष्टता हमारे लिए विस्मयकर थी। बहुत प्रान्तों से मुझे लाठी, पत्थर, गाली, गलौच, गदहे की शोभा यात्रा, कलंकारोपण और बार-बार जहर

मिले थे। मालूम होता है कि यहाँ के मनुष्य यह सब जानते ही नहीं। काशी शास्त्रार्थ के विरोधी पक्ष के नेता कलकत्ते में हमसे सुहृदभाव से मिलते हैं। हुगली शास्त्रार्थ के बाद विरोधी पं. ताराचरण तकरत्न ने दोतल्ला गृह में बातचीत में और सम्मक व्यवहार में जो सौजन्य का परिचय दिया है उसको कभी मैं नहीं भूलूंगा। हमारे विरोधी पण्डित महामहोपाध्याय श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न को ही मैंने उनके व्यवहार से मुग्ध होकर अपनी संस्कृत भाषा की वक्तृता का बंग्ला में अनुवाद करने को दिया। कलकत्ता के समाज सुधारक, राष्ट्र सुधारक, साहित्यक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ज्ञानी, गणी, साधु, ईसाई, मुसलमान, राजा-महाराजा सभी से मुझे सम्मान और श्रद्धा प्राप्त हुई है।"

स्वामी पूर्णानन्द जी ने इस सन्दर्भ में चार बातों को सर्वथा मिथ्या प्रतिपादित कर दिया है। पाठक, ग्रन्थ में इसे विस्तारपूर्वक देख सकते हैं।

यहां यह स्मरणीय है कि पं. दीनबन्धु जी सम्पूर्ण घटनाक्रम महर्षि से ही कहलवाते हैं। उपर्युक्त सन्दर्भ महर्षि चरित्र को निश्चय ही गिराने तथा बंगाली विद्वानों के महत्व को बढ़ाने वाला है। महर्षि ने 23 मार्च 1973 को कलकत्ता में ईश्वर और धर्म विषय पर व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान बाबू केशवचन्द्र सेन के उद्योग से बाबू गोराचान्द के मकान पर हुआ था। इसी व्याख्यान के बाद न्यायरत्न जी धैर्य खो बैठे थे। उपस्थित सज्जनों ने ही उक्त प्रसंग का पटापेक्ष कराया। पं. महेशचन्द्र ने अनुवाद में वह बात कही जो महर्षि ने नहीं कही थी। संस्कृत कालेज के विद्यार्थियों ने पं. महेशचन्द्र जी से जब यह कहा तो वह बहुत बिगड़े और वह उठकर चले गए।

द्रष्टव्य- महर्षि जीवन चरित- देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय पृ. 234-235 यह है पं. महेशचन्द्र जी की महर्षि के प्रति श्रद्धा और सौहार्द। 22-1-1881 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में देश भर के लगभग 300

विद्वानों को बुलाकर एक शास्त्रर्थ का ड्रामा किया गया, जिसमें महर्षि के मंतव्यों को (साथ ही अपने पक्ष को भी) प्रश्न रूप में उपस्थित पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न ने किया और उत्तरदाता का दायित्व सूबाशास्त्री (श्रीरामसुब्रह्मण्यम शास्त्री तज्जौर मद्रास प्रेसीडेंसी) ने निभाया। इस शास्त्रार्थ में महर्षि को बुलाना तो दूर, सूचित तक नहीं किया और अपने पक्ष को एक पक्षीय ढंग से प्रस्तुत कर विजयी भाव का अनुभव किया।

उक्त शास्त्रार्थ में पं. तारानाथ तर्क वाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर, पं. भुवनचन्द्र विद्यारत्न आदि 300 विद्वान् उपस्थित थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर व राजेन्द्रलाल मित्र - ये दोनों महानुभाव शास्त्रार्थ में उपस्थित नहीं थे किन्तु दोनों ने सभा की कार्यवाही को जी-जान से स्वीकार किया था। पं तारानाथ तर्क वाचस्पति महर्षि से 1873 में शास्त्रार्थ का साहस तो नहीं जुटा पाए किन्तु 1881 में सीनेट हाल में मूर्तिपूजा के समर्थन में गरजते रहे। यह समग्र विवरण प्रा. राजेन्द्र जी 'जिज्ञासु' द्वारा सम्पादित - 'एक अलभ्य शास्त्रार्थ' में द्रष्टव्य है।

पं. दीनबन्धु जी ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द के मुख से कहलवाया है- "मेरे परम मित्र पण्डित प्रवर ईश्वरचन्द्र जी विद्यासागर से अनुरोध पत्र आया है।"

महर्षि के ज़ीवन चरित व पत्र एवं विज्ञापन से कोई इस प्रकार का संकेत नहीं मिलता जिससे महर्षि के साथ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की परममित्रता तो दूर, मित्रता भी सिद्ध होती हो। विद्यासागर व महर्षि की भेंट भी साधारण रूप से दो बार ही हुई है। वैसे भी महर्षि लौकिक जनों के प्रति परम, परम आदरणीय, परम पूज्य आदि रूप में पद प्रयोग के विरूद्ध थे।

उक्त तथा उक्त सदृश अनेक कपोल कल्पित घटनाओं की निस्सारता स्वामी पूर्णानन्द ने ऐतिहासिक प्रमाणों एवं तर्क-मुक्ति के बल

पर सम्यक् रूप से सिद्ध की है। महर्षि दयानन्द का समग्र जीवन अज्ञान, पाखण्ड, कुरीति तथा अंध विश्वास के विरूद्ध संघर्षमय रहा है। योगी का आत्मचरित, महर्षि के. पवित्र जीवन को अंधविश्वास तथा पाखण्ड से आच्छादित करने का कुत्सित प्रयास ही कहा जा सकता है। इसका प्रतिकार महर्षि के सच्चे अनुयायी यावज्जीवन आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मनसावाचा कर्मणा अपने जीवन द्वारा प्रसृत करने वाले स्वामी पूर्णानन्द जी ने अपने जीवन की सान्ध्यवेला में उसी दृढ़ता के साथ किया है जो जीवन भर उनके कार्यों एवं व्यवहार में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती रही है।

सम्पर्क
30/2, सैक्टर-4, जागृति विहार
मेरठ (उत्तर प्रदेश) 250 004
मो: 09837377938

ओ३म्

इस ग्रन्थ के लेखन की पृष्ठभूमि

आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के जीवन चरित के लेखन का मौलिक, तथ्यात्मक एवं शोध-परक काम धर्मवीर पं. लेखराम, बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, मास्टर लक्ष्मण आर्योपदेशक तथा दीवान बहादुर हरविलास शारदा ने किया। इन्हीं जीवन चरितों की मौलिक सामग्री का उपयोग परवर्ती लेखकों यथा पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं. चमूपति एम.ए., लाला लाजपतराय आदि ने किया। देवेन्द्र बाबू के अतिरिक्त शेष सभी लेखक वैदिक विचारधारा वाले थे और आर्य समाज के अनुयायी थे। महर्षि के प्रति श्रद्धा-भाव के कारण ही स्वामी सत्यानंद जी से 'दयानन्द-प्रकाश' और डॉ. भवानीलाल भारतीय से 'नवजागरण के पुरोधा-स्वामी दयानन्द' जैसे जीवन-चरित आर्य जनता को प्राप्त हुए।

परन्तु 20वीं शदाब्दी के आठवें दशक (सन् 1970 और उसके बाद) में महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित को विकृत करने के उद्देश्य से दो षड्यन्त्र रचे गये। एक षड्यंत्र तो डी.ए.वी के प्रिंसीपल श्रीराम शर्मा (चंडीगढ़) ने आरम्भ किया तथा दूसरे षड्यंत्र के ब्यूह रचनाकार पं. दीनबंधु वेदशास्त्री (कलकत्ता) और स्वामी सचिदानन्द योगी (पूर्व नाम पं. राजेन्द्रनाथ शास्त्री) थे। आरम्भ में थोड़ी सी चर्चा श्रीराम शर्मा वाले कृत्य के सम्बन्ध में करते हैं।

हुआ ये कि हरियाणा सरकार ने पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ को पचास हजार रूपये की राशि महर्षि का जीवन-चरित का लिखवाने के लिए प्रदान की। पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद्मभूषण लाल सूरजभान जी ने यह काम अपने चहेते (श्रीराम शर्मा) को लाभ पहुंचाने के लिए उन्हें सौंप दिया। श्रीराम शर्मा का आर्यसमाज से य वैदिक विचार

धारा से या इतिहास परक लेखन से कुछ भी लेना-देना नहीं था। महर्षि की जीवनी के लेखन का काम हाथ में आते ही श्रीराम शर्मा ने एक लेख दिया कि महर्षि की मृत्यु विषपान से नहीं हुई थी। यह लेख श्रीराम शर्मा ने पंजाब विश्वविद्यालय की रिसर्च बुलेटिन (आर्ट) में छपवा दिया। इससे आर्य सामाजिक क्षेत्र में तो मानो भूचाल आ गया। ऋषि जीवन के गवेशकों ने आर्य पत्र-पत्रिकाओं में श्री शर्मा की इस संस्थापना के विरूद्ध लेख लिखे कुछ ने उन्हें सीधे पत्र भी लिखे। परन्तु श्रीराम शर्मा हठी प्रकृति के व्यक्ति थे, अपनी बात पर अड़े रहे। उनके दुराग्रह और क्षुद्रबद्धि की सीमा का अनुमान आप आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साप्ताहिक मुखपत्र आर्य मर्यादा के 01-04-1973 के सम्पादकीय (सम्पादक पं. जगदेव सिंह सिद्धांती शास्त्री) लेख की निम्नलिखित पंक्तियों से लगा सकते हैं।

"प्रो. श्रीराम शर्मा का हुलिया देखें।"

"प्रो. महाशय ने ऋषि दयानन्द के जीवन चरित को ही नहीं बिगाड़ा, अपितु गुरुवर विरजानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में आगे का वाक्य लिखा है-"

"स्वामी विरजानन्द अन्य सामान्य पण्डितों के समान व्याकरण के अध्यापक मात्र थे" "स्वामी दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द को अपना गुरु इसी दृष्टि से कहा कि वे लम्बे समय (तीन वर्ष तक) उनसे पढ़ते रहे, अन्यथा उनमें कोई विशेषता न थी। इत्यादि। इस प्रकार प्रो. श्रीराम का पूरा हुलिया जानने के लिए आर्य मर्यादा के इस अंक में पृष्ठ 2 पर डॉ. महेन्द्र कुमार शास्त्री बम्बई लेख ध्यान से पढ़ना आवश्यक है। आश्चर्य यह है कि प्रो. शर्मा ने यह लेख पंजाब विश्वविद्यालय रिसर्च बुलेटिन (आर्ट) में छपवाया है।"

"आर्य जगत को स्पष्ट जान लेना चाहिए कि श्री शर्मा ने किसी स्वार्थ और षड्यंत्र के वशीभूत होकर आर्य समाज के इतिहास को भ्रष्ट

करने के लिए यह लेख लिखा प्रतीत होता है। महान आश्चर्य यह है कि पंजाब विश्वविद्यालय के उप कुलपति लाला सूरजभान की छाया में ऐसे कलंकित लेख लिखे जा रहे हैं। इतना ही नहीं, लाला सूरजभान ने इस कुकृत्य के लिए प्रो. श्रीराम शर्मा को बेदर्दी से हरियाणा राज्य का 50 हजार रुपया सौंप दिया। क्यों? वही जानें।''

क्या ला. सूरजभान इस षड्यंत्र में नहीं हैं ''इसी अंक में पृष्ठ दस पर आर्य समाज के वयोवृद्ध शिक्षा विशेषज्ञ त्यागमूर्ति लाला रामनारायण बी.ए. रोहतक का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इस लेख का एक वाक्य आर्य समाज के सभी महानुभाव पढ़ें। ''आपने कुलपति जी को अविश्वास के सम्बन्ध में बहुत दिलेराना शब्द लिखे हैं और उन शब्दों में सच्चाई समझता हूँ। कुछ दिन हुए एक बहुत जानकार व्यक्ति ने मुझे बतलाया था कि प्रो. श्रीराम शर्मा को फायदा पहुँचाने के लिए ही श्री सूरजभान जी ने उसको इस काम पर लगाया है।''

आदरणीय प्राचार्य श्री भगवानदास जी एम.ए. का पत्र ''डी.ए.वी. कालेज अम्बाला नगर के प्रसिद्ध आर्य विद्वान का निम्नलिखित पत्र अभी छपते छपते प्राप्त हुआ- ''आचार्य श्रीराम जी को मैंने पत्र लिखा था पर उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। उन्होंने यह कहा कि इतिहास में केवल घटनाएं ही होती हैं, मैंने उनको यह सुझाव दिया है कि जीवन चरित्र में भावनाएं भी बहुत आवाश्यक हैं केवल ऐतिहासिक घटनाएं ही नहीं होती। पर उन्होंने उत्तर भी नहीं दिया। अब तो आप और देश भर के सभी आर्यसमाजें शिक्षा मंत्री हरियाणा एवं उपकुलपति पंजाब विश्व विद्यालय चंडीगढ को यही लिखें कि प्राचार्य श्रीराम शर्मा को जो कार्य दिया है उससे उन्हें हटा दिया जाय। इसकी प्रतिलिपी सब आर्य समाजों की सेवा में।''

इस बात का श्रेय यशस्वी इतिहासकार और सिर तली वा लिये फिरते रहने वाले ऋषि-मिशन के दिवाने जाति सेवक, धर्म रक्षक प्रो.

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'' जी की लौह-लेखनी को जाता है कि उनके द्वारा लिखे गये लेखों में प्रस्तुत महर्षि के विषपान विषयक अकाट्य प्रमाणों के सामने प्रो. शर्मा ने हार स्वीकार की और उनका षड्यंत्र विफल हो गया। सत्य की विजय हुई और महर्षि के जीवन चरित के नाम पर असत्य गपोड़ों के संग्रह वाली पुस्तक के लेखन के प्रयास पर पूर्ण विराम लग गया।

ऋषि जीवन के कलंकित करने का दूसरा षड्यंत्र पं. दीनबंधु और सच्चिदानंद योगी ने मिल कर आरम्भ किया। षड्यंत्रकारियों को महात्मा आनंद स्वामी जैसी धनी सन्यासी का आशीर्वाद मिल गया और 'योगी का आत्म चरित' नाम की एक कल्पना-प्रसूत (जिसका ऐतिहासिक तथ्यों से कोई सरोकार नहीं है) पुस्तक छप गयी। महात्मा आनंद स्वामी स्वयं भी बहुत सिद्धांतनिष्ठ लेखन या विशुद्ध वेदवादी प्रवचन के लिए आग्रही नहीं थे। उनका वही दृष्टिकोण इतिहास ग्रंथों के लिए भी प्रतीत होता है। 'योगी के आत्म चरित' में वर्णित असंगत और ऐतिहासिक तथ्यों में विपरीत बातों का स्वामी पूर्णानंद सरस्वती जी ने अपने इस ग्रंथ **''योगी का आत्म चरित एक मनघड़ंत कहानी''** में मुँहतोड़ उत्तर दिया है। इस ग्रंथ के लेखन की आवश्यकता क्यों पड़ी - इस विषय में कोई ठोस जानकारी अगली पंक्तियों में देने का प्रयास किया जाएगा।

पं. दीनबंधु वेदशास्त्री लिखित 'योगी का आत्म चरित' विषयक लेख 'आर्यमर्यादा' सप्ताहिक में छपना आरम्भ हो गए उनके कपोल-कल्पित बातों के समर्थन में स्वामी सच्चिदानंद योगी भी मैदान में कूद पड़े। अभी तक स्वामी पूर्णानंद सरस्वती जी के लेख आर्यमर्यादा कार्यालय ने प्रकाशित करना आरम्भ नहीं किये थे। डॉ. भवानी लाल भारतीय अपने लेखों में इस मनघड़ंत कहानी के असत्य और काल्पनिक पक्षों की पोल खोल रहे थे। इस घटना-क्रम के समय 'आर्यमर्यादा' सप्ताहिक अति प्रतिष्ठित पत्रिका थी और आर्यग्रथों एवं वैदिक वांगमय का तलस्पर्शी ज्ञान रखने वाले आर्य विद्वान श्री पं. जगदेव सिंह सिद्धांती शास्त्री इसके

सम्पादक थे। विवाद के बिंदुओं पर आमने सामने बैठकर सुलझाने की दृष्टि से मैंने आर्य समाज देहरादून की ओर से एक निमंत्रण सच्चिदानंद योगी जी और डॉ. भवानी लाल भारतीय जी को दिया कि आप लोग अपनी अनुकूलता की तिथियां परस्पर विचार-विमर्श से निश्चित करके आर्य समाज देहरादून के मंत्री जी को बता दें। वहाँ पर आप लोगों के विचार-विमर्श (शास्त्रार्थ) की व्यवस्था हो जायेगी और आप लोगों के मार्ग-व्यय, आवास आदि का भार आर्य समाज देहरादून वहन करेगा। मेरा यह निमंत्रण 'आर्यमर्यादा' सप्ताहिक के 11-3-1973 के अंक में पृष्ठ 9 पर प्रकाशित हो गया। इसमें मैंने स्वामी सच्चिदानंद योगी जी को यह भी लिखा कि अभी तो आप डॉ. भारतीय के आपेक्षों का ही उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। स्वामी पूर्णानंद सरस्वती (बड़ौत) भी आपसे इस असंगत जीवनी पर बहुत से प्रश्नों का उत्तर मांग रहे हैं। परन्तु योगी जी सामने आने से बचने का बहाना ढूंढते रहे। ज्वालापुर से चलकर आर्यसमाज देहरादून के मंत्री के पास यह पूछने के लिए पहुँचे कि "क्या आप यह (शास्त्रार्थ वाली) व्यवस्था कर देंगे?" उन्होंने कहा कि जब हमारे प्रतिष्ठित सदस्य श्री सत्येन्द्र सिंह आर्य ने कह दिया है तो हम व्यवस्था अवश्य करेंगे। यह सुनकर योगी जी निराश हो गये। अब उन्होंने दूसरी चाल चली, 'आर्य मर्यादा' के सम्पादक श्री सिद्धान्ती जी को पत्र लिखा कि डॉ. भारतीय विचार-विमर्श हेतु आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर आ जाएँ। सिद्धान्ती जी ने योगी जी का वह मन्तव्य 'आर्य्य मर्यादा' के 6 मई 1973 के अंक में छाप दिया और साथी ही यह कहा कि योगी जी को आर्य समाज देहरादून ही आना चाहिए क्योंकि उस आर्य समाज के दोनों पक्षों को निमंत्रण दिया है। आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर की ओर से तो ऐसा कोई निमंत्रण नहीं है। मैंने 'आर्यमर्यादा' के 3-6-1973 के अंक में एक लेख 'माननीय श्री सच्चिदानंद योगी से पुनर्निवेदन" इस आशय का छपवाया कि अर्यासमाज देहरादून की ओर से निमंत्रण यथापूर्व विद्यमान है, वे विचार-विमर्श हेतु अवश्य पधारें। परन्तु योगी जी सामने आने से

बचने के लिए कहने लगे कि अब शास्त्रार्थ की क्या तुक है। उन्हें न सामने आना था, न वे आये।

इसी बीच योगी जी ने पं. दीनबंधु जी की सामग्री के आधार पर तथा कुछ अन्य सामग्री को मिलाकर 'योगी का आत्मचरित पुस्तक प्रकाशित करवा दी। इस मनघड़ंत कहानी के विरोध में जब स्वामी पूर्णानंद सरस्वती के लेख "आर्यमर्यादा" साप्ताहिक में छपने आरम्भ हो गये और वे सभी लेख छपे। योगी जी उनमें से किसी का भी उत्तर नहीं दे पाए। वे सब लेख मेरे पास सुरक्षित हैं। तथापि पत्र-पत्रिकाओं का कागज इतनी उत्तम गुणवत्ता वाला नहीं होता कि वह लम्बे समय तक सुरक्षित रह सके। अत: स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी ने उस मनघड़ंत कहानी के खण्डन के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया जो अब माननीय प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु जी के सम्पादकत्व में दूसरी बार नई साज-सज्जा के साथ प्रकाशित हो रहा है।

पं. दीनबन्धु जी व योगी जी वाली पुस्तक की अप्रमाणिकता और असत्यता सिद्ध करने के लिए मैं यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए दो प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(1) 'आर्यमर्यादा' साप्ताहिक के 6-5-1973 के सम्पादकीय में श्री पं. जगदेव सिंह सिद्धान्ती शास्त्री लिखते हैं-

"ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवने के सम्बन्ध में"

"कलकत्ता से मान्य पं. दीनबन्धु जी वेद शास्त्री ने आर्यमर्यादा को लिखा कि "मैंने बंगाल में ऋषि जीवन् काल के अनेक मूल कागजात खोज निकाले हैं जिनसे ऋषि के अज्ञात जीवन पर बहुत नवीन प्रकाश पड़ता है। इस सामग्री को मैं 'आर्य मर्यादा' में प्रकाशित करवाना चाहता हूँ।" इस पत्र के उत्तर में हमने उनसे निवेदन किया कि जब तक हम उस मूल सामग्री को न देख लें- चाहे वह जिस भाषा में हो, तब तक निश्चित

उत्तर देने में समर्थ नहीं।''

''हमारे उत्तर के पश्चात् उन्होंने अपनी सामग्री हमारे दिखाने के लिए कोई पत्र नहीं भेजा। कुछ दिन के बाद उनके लेख 'सार्वेदशिक साप्ताहिक' में छपने लगे और यह टिप्पणी दी कि ''आर्यमर्यादा'' ने यह सामग्री नहीं छापी।'' परन्तु क्यों? इस पर कुछ नहीं लिखा।'' इससे स्पष्टत: ही सिद्ध हो गया कि दीनबन्धु जी इस सामग्री की जांच किसी भी प्रतिष्ठित विद्वान् से कराने से कतराते थे क्योंकि वह सामग्री जाली थी। उन्हें अपने छल-कपट के पकड़े जाने का डर था।

(2) जिस सामग्री के विषय में पं. दीनबन्धु जी ने घोषणा की थी कि उन्होंने ऋषि जीवन काल के अनेक मूल कागजात खोज निकाले हैं जिनसे ऋषि के अज्ञात जीवन पर बहुत नवीन प्रकाश पड़ जाता है, वह सामग्री वे किसी को भी दिखाने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु उस सामग्री की जांच हो गयी और चोरी पकड़ी गयी। पूरा प्रकरण इस प्रकार है- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट खारी बावली दिल्ली के संस्थापक एवं अध्यक्ष (स्व.) श्री दीपचन्द जी आर्य महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त थे। आर्य जगत् में सस्ता वैदिक साहित्य उपलब्ध कराने का मार्ग उन्होंने ही प्रशस्त किया था। आर्य विद्वानों के प्रति उनके मन में बहुत आदर भाव रहता था तथा उनके साथ, लाला जी के बहुत मधुर सम्बन्ध रहते थे। स्वामी सच्चिदानन्द योगी जी अपनी सन्यास पूर्व की अवस्था में पं. राजेन्द्र नाथ शास्त्री नाम से दिल्ली में रहते थे तो लाला दीपचन्द आर्य जी से प्राय: मिलते रहते थे। आचार्य विश्वश्रवा व्यास जी का भी लालाजी के साथ बहुत स्नेह भाव था। आचार्य विश्वश्रवा जी महर्षि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के शुद्धतम रूप को बनाये रखने के लिए बहुत दृढ़ आग्रही थे। उन्होंने लाला जी से कहा कि ऋषि की अज्ञात जीवनी विषयक जिस सामग्री की सच्चिदानन्द योगी इतनी डींग पीट रहे हैं, वह मूल कागजात योगी जी मुझे तो दिखायेंगे नहीं। आप कृपया योगी जी से बात करके वह

ओ३म्

प्राक्कथन

सन् १६२३ में आर्य समाज कलकत्ता के दीपावली उत्सव के सभापति पद से भाषण देते हुए श्री विपिन चन्द्रपाल ने घोषणा की थी – "महर्षि दयानन्द सरस्वती वर्तमान युग के अनन्य श्रेष्ठ महापुरुष थे। बहुत ही खेद की बात है कि उनकी अज्ञात जीवनी का उद्धार आज तक भी नहीं हुआ। यह उत्तरदायित्व विशेष रूप से आर्य समाज का है इसके लिए भगीरथ प्रयत्न होना चाहिए।"

श्रीमान् रामानन्द चटर्जी एम0 ए0 (Modern Review) एवं "प्रवासी" पत्र के सम्पादक और साधारण ब्राह्म समाज के आचार्य ने कहा था – "महर्षि दयानन्द बंगाल में आकर पूरे चार महीने (१६ दिसम्बर सन् १८७२ से १६ अप्रैल सन् १८७३ तक) रहे। काशी-शास्त्रार्थ (१८६६) के विजयी वीर महर्षि दयानन्द के दर्शन के लिए बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक, धर्म संस्कारक, साहित्यिक, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक और चिन्तन शील मनीषी लोग उनके रहने के स्थान महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के वराहनगरस्थ नाईवान नामक प्रमोद-कानन में प्रतिदिन अधिक संख्या में आते जाते थे। विशिष्ठ पुरुषों से उनका विचार विनिमय, वार्तालाप, आलोचना और शंका समाधान भी होता था। उनकी मुख निःसृत और संस्कृत भाषा में कथित वाणियों को लिपिबद्ध करने के लिए महिर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर, पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ब्रह्मानन्द श्री केशवचन्द्रसेन ने कुछ एक विद्वान् लेखकों की नियुक्ति की थी। वे सब संस्कृत में लिखित विवरण आज कहाँ ? दयानन्द-चरित्र के लेखक

श्री देवेन्द्रनाथ मुखर्जी को इसका पता नहीं चला था।[1] आज अगर वह अमूल्य सम्पदा मिल जाये तो धर्म जगत के लिए बहुत ही उपकार होगा। आर्य समाज कलकत्ता का इसके उद्धारके लिये पूर्ण प्रयत्न परम कर्त्तव्य है।''

पं0 श्री रसिक मोहन विद्या भूषण (वैष्णव दार्शनिक और शताधिक वर्ष जीवी पुरुष) ने कहा –''उस समय तक महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन के करीब ५० वर्षों की प्रधान प्रधान घटनाओं को सुनाया था। पिता का नाम और जन्म स्थान का परिचय नहीं बताया। शर्त भी थी कि उनकी मृत्यु से पूर्व यह विवरण मुद्रित न किया जावे। सम्भवतः यह विवरण ब्राह्म समाज के नेताओं के पास ही रह गये और उनका ध्यान ही नहीं रहा।'' पं0 श्याम लाल जी गोस्वामी (बंगाल के सुप्रसिद्ध धर्म प्रवक्ता) ने कहा – ''उस समय से १० वर्ष बाद महर्षि दयानन्द की मृत्यु हुई थी। इन दस वर्षों के अन्दर ब्राह्म समाजी आदि, नव विधान और साधारण इन तीन नामों में विभक्त होकर परस्पर प्रतियोगिता करते रहे। और महर्षि दयानन्द जब राजकोट, बम्बई, पूना, लाहौर, अहमदाबाद आदि स्थानों में आर्य समाज की स्थापना करने लगे तब वहां के प्रार्थना समाजों (ब्राह्म समाज) के साथ आर्य समाजों की प्रतिद्वन्द्विता शुरु हो गई थी। इसी स्थिति में महर्षि दयानन्द की मृत्यु (१८८३ में) हो गई। इस लिपिवद्ध विवरण के प्रति ब्राह्म समाज स्वाभाविक रूप से ही उदासीन हो गया था। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी, श्री नागेन्द्रनाथ चटर्जी (महात्मा दयानन्द चरित्र के लेखक) को भी उस लिखित विवरण का पता नहीं

---

1 यह एक बहुत चटपटी गप है। ऋषि के साथ भागलपुर में एक सहयोगी साथ ही कलकत्ता गया था। उसे तो ऋषि के विचारों को कलकत्ता में लिपिबद्ध करने का पता न चला। यदि लिपिबद्ध किया गया था तो वह सामग्री ईश्वरचन्द्र आदि ने प्रकाशित क्यों न करवायी? प्रेस में तो तभी ऋषि की धूम मची हुई थी। देवेन्द्र बाबू जी ने टंकारा से अजमेर तक भारत के नगरों ग्रामों में जा-जा कर खोज की, उन्हें कलकत्ता की इस सामग्री की गन्ध न आई। बलिहारी इन गप गढ़ने वालों पर! ऋषि से कहलवा दिया कि मेरे जीतेजी न छपे। – जिज्ञासु

मिला था।[1] आर्य समाज और ब्राह्म समाज के अन्दर वैमनस्य भी इस के लिए एक कारण था। ..... यह लिखित विवरण मिल जाए तो अच्छा है! लेकिन भगवान् जानते हैं कैसे इसका उद्धार होगा?''

वर्तमान लेखक (दीनबन्धु) ने कहा – ''दोनों समाजों में वेद की मान्यता के सम्बन्ध में वैषम्य अवश्य है। ब्राह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय वेद को अभ्रान्त और अपौरुषेय नहीं मानते थे .... जो कुछ हो अगर महर्षि की कथित आत्म जीवनी, वार्तालाप शंका समाधान और आलोचना प्रसंगों की पाण्डुलिपि (manuscript) नष्ट न हो गई हो, तो उसका पुनरुद्धार हम लोग ज़रूर करेंगे।''[2] यह उपरिलिखित विवरण 'दीनबन्धु जी' की लिखी हुई 'पृष्ठभूमि' के पृष्ठ १ से ३ तक उद्धृत किया गया है।

इस विवरण से इन बातों का पता चलता है:-

१. ऋषि दयानन्द कलकत्ते में चार मास तक (१६ दिसम्बर सन् १८७२ से १६ अप्रैल सन् १८७३ तक) रहे।

२. इन चार महीनों में प्रतिदिन उनके निवास स्थान पर बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक, धर्म संस्कारक, साहित्यिक, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक और चिन्तनशील मनीषी लोग बड़ी संख्या में उनके पास आते थे।

---

1 गप गढ़ने की भी एक कला होती है। झूठ बोलते और जेब काटने की भी एक विशिष्ट कला होती है। नागेन्द्रनाथ चटर्जी को भी इस विवरणका पता न चला - यह कथा कलाकर की दक्षता का ज्वलन्त प्रमाण है। श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती को भी पता था या नहीं ? उन्होंने प्रं० लेखराम जी को इस सामग्री का पता क्यों न दिया? महर्षि ने अपने परम भक्त ठाकुर मुकन्दसिंह जी चौहान को अपनी इस तथाकथित अज्ञात जीवनी के प्रसंग कुछ भी न सुनाये। कारण? - जिज्ञासु

2. राजा राममोहनराय को तो दीनबन्धु व्यर्थ में यहाँ घसीट रहे हैं। उन्होंने वेद के विषय में ऐसा कहीं खुलकर लिखा है क्या ? उनका समग्र साहित्य तो देखा होता। उनकी पहुँच वेद तक थी ही नहीं। वह मनुस्मृति को वेद भाष्य बताते हैं परन्तु वेद निन्दक तो नहीं थे। 'वेद को अभ्रान्त नहीं मानते थे' तो भ्रान्त मानते थे क्या? कोई प्रमाण तो दिया होता। 'जिज्ञासु'

३. विशिष्ट पुरुषों से उनका विचार विनिमय, वार्तालाप, आलोचना और शंका समाधान भी होता था।

४. ऋषि दयानन्द कलकत्ते में संस्कृत भाषा में ही बोलते थे, इसलिए:-

५. महर्षि देवन्द्रनाथ ठाकुर, पं० ईश्वर चन्द्र विद्या सागर और ब्रह्मनन्द श्री केशवचन्द्रसेन ने ऐसे कुछ एक विद्वान् लेखकों को नियुक्त कर दिया था जो ऋषि दयानन्द के मुख से निकली संस्कृत वाणी को संस्कृत भाषा और लिपि में ही लिखते थे।

६. श्री रामानन्द चटर्जी ने इसी बात पर अति दुःख प्रकट किया था कि वे सब संस्कृत में लिखित विवरण आज कहाँ ?

७. ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन के करीब ५० वर्षों की प्रधान-प्रधान घटनाओं को सुनाया था।

८. ये संस्कृत में लिखे हुए सब विवरण ब्राह्म समाज के नेताओं के पास ही रह गये थे।

९. महर्षि दयानन्द के बंगाल से लौटने के कुछ वर्ष बाद ब्राह्म समाजियों की ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के साथ शत्रुता पैदा हो गई थी। इस लिये ब्राह्म समाजियों ने संस्कृत में लिपिवद्ध सारे विवरण को नष्ट कर दिया।[1]

१०. इसीलिये श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी, श्री नागेन्द्र नाथ चटर्जी और श्री देवेन्द्र नाथ मुखर्जी को अत्यन्त परिश्रम करने पर भी ऋषि दयानन्द की पवित्र संस्कृत वाणी का संस्कृत भाषा में लिपिवद्ध किया हुआ वह अमूल्य विवरण न मिल सका।

दीनबन्धु जी ने उस सभा में जो प्रतिज्ञा और संकल्प किया था उसका उन्होंने दो वर्ष के पश्चात् मथुरा में श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दि के

---

1 प्रथम विश्व युद्ध के समय तक मतभेद भले ही था, वैमनस्य नहीं था। कई बड़े-2 ब्रह्म समाजी आर्यसमाज के प्रेमी प्रशंसक तब भी थे। - जिज्ञासु

अवसर पर भी आर्य नेताओं की गोष्ठी में वर्णन किया।[1] इस से आर्य समाजी नेताओं में दीनबन्धु जी की बड़ी प्रशंसा हुई। सन् १६२६ में टंकारा में भी श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दि के अवसर पर पहुंचकर उन्होंने आर्य समाजियों से प्रशंसा प्राप्त की। उन ही दिनों में उनको महर्षि दयानन्द के बंगाली भक्त हेमचन्द्रजी चक्रवर्ती की डायरी मिल गई थी। जिसमें उन्होंने ऋषि दयानन्द के कलकत्ते में चार मास के दैनिक कार्यक्रम का वर्णन नोट किया था। इसको भी उन्होंने सन् १६३३ में अजमेर में ऋषि दयानन्द की निर्वाण अर्द्धशताब्दि के अवसर पर आर्य जनता के सामने प्रकट किया इसमें भी दीनबन्धुजी की बड़ी प्रशंसा हुई। इन प्रशंसाओं और उत्साह-वर्धनों से उन्हें अपने भविष्य जीवन के लिए बड़ी बड़ी आशाएं होने लगीं और आर्थिक लाभ के लिए भी उमंगें उठने लगीं। इस आशा से प्रेरित होकर उन्होंने उस खोई सम्पत्ति की खोज में दिन रात एक कर दिया परन्तु वह नष्ट हुई सम्पत्ति न मिलनी थी और न मिली। इससे दीनबन्धुजी अत्यन्त हताश हो गये। एक तो आर्यसमाजियों की ओर से बड़ी २ फटकारों का भय था, क्योंकि उन्होंने जगह २ अपने संकल्पों का खूब प्रचार किया था और जनता को बड़ी-बड़ी आशाएं दिलाई थी। परन्तु उस खोज के परिश्रम का फल हुआ – **''खोदा पहाड़ निकला चूहा और वह भी मरा हुआ ।''**

दूसरी हताशा यह कि इस परिश्रम की सफलता से पर्याप्त धन मिलने की आशा थी वह पूरी न होती थी। इस निराशा की अवस्था में उन्हें एक बात सूझी जिसके द्वारा वह आर्य समाजियों को सन्तुष्ट भी कर सकेंगे और ब्राह्म समाजियों की मनोकामना में सहायक सिद्ध हो सकेंगे। इससे धन उपार्जन की कामना भी पूरी होने की उमंग भी पूरी हो सकेगी।

---

1 पंजाब के ब्रह्मसमाज के प्रधान ला. काशीराम की पं. लेखराम आदि आर्य नेताओं से मैत्री थी। उनको भी इस सामग्री का पता न लगा। वह ऋषि के सम्पर्क में भी रहे। उनसे किसी आर्य का बैर भाव व मतभेद नहीं था – जिज्ञासु

वह सुझाव यह था कि उसने औपन्यासिक ढंग की एक पुस्तक तैयार की और उसका प्रवक्ता दयानन्द नाम के एक काल्पनिक व्यक्ति को बनाया। इस षड्यन्त्र में कुछ ब्राह्म समाजियों को भी सम्मिलित किया जिनके द्वारा कुछ पुराने कागजों पर ऋषि दयानन्द के नाम से बंगला लिपि में भिन्न भिन्न प्रकार के लेख लिखवाये और दीनबन्धु जी ने स्वयं हिन्दी भाषा में एक अनुवाद लिख दिया। उसका नाम रख दिया 'ऋषि की अज्ञात जीवनी'।

दीनबन्धु जी ने इस पुस्तक की पृष्ठभूमि के पृष्ठ ५ पर लिखा है:-

मूल संस्कृत कहाँ ? "इस रूप में उपादान संग्रह करके महर्षि की अज्ञात जीवनी का प्रकाशित करना असम्भव ही मालूम पड़ा था। लेकिन भगवान की कृपा से इस कार्य में आशा की किरण दिखाई पड़ी है। जो-जो पुरुष महर्षि की जीवनी की सारी बातें संस्कृत में कही हुई सुनकर लिखने के लिए नियुक्त हुए थे उन सब के बंग लिपि में बंग भाषा में लिखे हुए विवरण मिल गये हैं। भविष्य में और भी कुछ मिलने की आशा है।"[1]

यहां आकर दीनबन्धु जी ने अपनी उस प्रतिज्ञा को भंग कर दिया जो उन्होंने सन् १९२३ की कलकत्ता आर्य समाज की सभा में की थी। कलकत्ता की उस सभा में बंगाल के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति सम्मिलित हुए थे, जिन्होंने 'ऋषि दयानन्द को स्वयं देखा था और उनके प्रवचनों को बड़े ध्यान के साथ सुना था। उन सब की मांग यह थी कि 'ऋषि दयानन्द के मुख से संस्कृत भाषा में जो पवित्र वाणी निकलती थी जिसको संस्कृत भाषा में ही लिपिबद्ध करने के लिए संस्कृत भाषा के विद्वानों को नियुक्त किया था। जिन्होंने ऋषि की संस्कृत भाषा को संस्कृत लिपि में ही लिखा था **उस संस्कृत में लिखे हुए विवरण की खोज होनी चाहिए।** ऋषि की उपस्थिति में ऋषि के वचनों की संस्कृत भाषा में की गई लिपि ही असली दस्तावेज या वास्तविक पाण्डुलिपि कहला सकती है। उस पाण्डुलिपि

को प्रामाणिक माना जा सकता था उसको छोड़कर दूसरी लिपियां जाली कही जाती हैं।[1]

दीनबन्धु जी ने उसी मूल पाण्डुलिपि की खोज के लिए प्रतिज्ञा की थी। परन्तु बड़ी भारी खोज के बाद भी वह मूल संस्कृत में लिखी हुई पाण्डुलिपि उनको न मिल सकी। इस लिए दीनबन्धु जी की ईमानदारी यह थी कि वह आर्य समाज के सामने **अपनी विवशता को स्वीकार करते और कहते कि मुझे संस्कृत में लिखे हुए विवरण में से एक पंक्ति भी नहीं मिली।** हालांकि संस्कृत में लिखा हुआ विवरण २४०० पृष्ठों में होना चाहिए था, क्योंकि ऋषि को प्रतिदिन कम से कम पांच-छः घण्टे विशिष्ट पुरुषों से वार्तालाप, विचार विनिमय, आलोचना, शंका समाधान और व्याख्यान में लग जाते थे। चूंकि ऋषि संस्कृत में ही भाषण और वार्तालाप आदि करते थे और उन सब बातों को संस्कृत के विद्वान् संस्कृत भाषा में ही लिपिबद्ध करते थे, इसलिए वह विवरण प्रतिदिन कम से कम २० पृष्ठों में लिपिबद्ध किया जाता होगा। ऋषिवर कलकत्ता में चार मास तक रहे, इन दिनों में निरन्तर वे अपने दैनिक कार्य में संलग्न रहे। इन चार मास के १२० दिनों में संस्कृत में लिपिवद्ध किया हुआ विवरण कम से कम दो हजार चार सौ पृष्ठों में अवश्य लिखा गया होगा। इस ही विवरण को श्री रामानन्द चटर्जी ने अमूल्य सम्पद् कहा था और उसी के लिए बड़े दर्द भरे शब्दों में कहा था "आज अगर यह अमूल्य सम्पद् मिल जाए तो धर्म जगत् के लिए बहुत ही उपकार होगा। इसी सम्पद् की खोज के लिए दीनबन्धु ने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु दीनबन्धु ने उन देशद्रोही और धर्मद्रोही ब्राह्म समाजियों से मिलकर आर्य समाज को धोखा दिया जिन्होंने ऋषि दयानन्द के संस्कृत में लिखे हुए २४०० पृष्ठों के विवरण को नष्ट कर दिया और उस २४०० पृष्ठों के विवरण में से एक पंक्ति भी शेष न रहने दी।

---

1 एक झूठ को छुपाने के लिए कई झूठ गढ़ने पड़ते हैं। योगी सच्चिदानन्द जी ने भी संस्कृत में लिपिबद्ध मूल सामग्री की चर्चा तक नहीं की कि वह कहाँ गई? - जिज्ञासु

उन अत्याचारियों के साथ मिलकर यह एक और जाली पुस्तक लिखकर आर्य समाज के साहित्य और सिद्धान्तों को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। और १२ लेखकों में से एक लेखक के घर से भी संस्कृत में लिखी हुई पाण्डुलिपि बरामद नहीं हुई, यह एक रहस्यमय आश्चर्य है। वास्तविकता यह है कि ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में ११ वें समुल्लास में ब्राह्म समाजियों की कड़ी आलोचना की थी और व्याख्यानों में भी ऋषिवर ब्राह्म समाज के मत का खण्डन करते रहते थे। इस कारण ब्राह्म समाज के नेता ऋषि दयानन्द के अत्यन्त विद्वेषी हो गये थे। इस लिए उन ब्राह्म समाजी नेताओं ने बंगाल से ऋषि दयानन्द के प्रभाव को मिटाने के लिए उन सब लिपिवद्ध विवरणों को सर्वथा नष्ट कर दिया और कोई भी चिन्ह शेष न रहने दिया। यह काम तो ऋषि दयानन्द के जीवन काल में ही या ऋषि के निर्वाण काल के थोड़े समय के बाद ही हो चुका था क्योंकि श्री देवेन्द्रनाथ मुखर्जी को भी जब कि वह सन् १८६४ में ऋषि दयानन्द के जीवन चरित्र को लिखने की तैयारी कर रहे थे वह विवरण नहीं मिला था। दीनबन्धु जी ने भी उन्हीं विद्वेषी ब्राह्म समाजियों के साथ मिलकर यह षड्यन्त्र रचा और ऐसी पुस्तक रची जिससे आर्य विद्वानों के द्वारा लिखी हुई ऋषि जीवनियां झूठी सिद्ध हो जाएं। वे जीवनियां चाहे पं0 लेखराम ने लिखी हों, देवेन्द्रनाथ मुखर्जी ने लिखी हों, हरविलास शारदा ने ने लिखी या स्वयं ऋषि दयानन्द ने अपना आत्म-चरित्र लिखा हो?[1]

इस पुस्तक को पहले ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवनी के नाम से साप्ताहिक सार्वदेशिक पत्र में धारावाही रूप से छापा जाता रहा, परन्तु फिर सार्वदेशिक सभा के विद्वान् और जागरूक सदस्यों ने अनुभव किया कि यह पुस्तक तो जाली प्रतीत होती है और उसमें जो चामत्कारिक

1 जिन लोगों से दीनबन्धु जी को वह सामग्री मिली, क्या वे सब संस्कृतज्ञ थे? इसका भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। संस्कृत से बंगला अनुवाद कैसे हो गया? यह भी दीनबन्धु जी ने नहीं बताया। - जिज्ञासु

घटनाएं लिखित हैं वे ऋषि दयानन्द के आत्मचरित्र के भी विरुद्ध हैं। इस लिए उन्होंने सार्वदेशिक पत्र में उस जाली पुस्तक का प्रकाशन बन्द कर दिया। परन्तु जैसे मोहम्मद गौरी को जयचन्द के द्वारा भारत में घुसने का अवसर मिल गया था इसी प्रकार आर्य समाजियों के अंदर इस पुस्तक के प्रवेश का द्वार आनन्द स्वामी सच्चिदानन्द योगी और स्वामी विज्ञानानन्द (रोहतक वाले) के द्वारा खुल गया। और इस पुस्तक को 'योगी का आत्मचरित्र' के नाम से प्रकाशित करा दिया।

इस पुस्तक के लेखक दीनबन्धु जी, प्रकाशक सच्चिदानन्द जी और पोषक आनन्द स्वामी को तनिक भी लज्जा नहीं आई कि एक जाली पुस्तक को 'योगी का आत्मचरित्र' या "Autobiography of Yogi Dayanand" का नाम दिया जा रहा है। क्योंकि किसी पुस्तक को 'आत्मचरित्र' नाम तब ही दिया जा सकता है **जब उस चरित्र को लिखने वाला स्वयं चरित्र नायक हो** ! अंग्रेजी कोष में 'Autobiography' का अर्थ लिखा है 'Life of a person written by himself'। परन्तु इस पुस्तक के लिखने वाले तो दीनबन्धु जी हैं। 'ऋषि दयानन्द का आत्मचरित्र' तो सारे संसार में केवल वह पुस्तक है जिसको ऋषि दयानन्द ने अपने हाथों से हिन्दी भाषा में लिखा और अपने सामने अपने विश्वस्त भक्त से अंग्रेजी में अनुवाद कराकर थ्योसोफिस्ट अखबार में छपवाया और उस छपे हुए विवरण को स्वामी जी ने अपना लिखा हुआ स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त आर्य समाज के साहित्य में किसी पुस्तक को 'ऋषि दयानन्द का आत्मचरित्र' नहीं कहा जा सकता। दूसरी जालसाजी की बात सच्चिदानन्द की यह है जो उन्होंने इस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर लिखी है:- "संस्कृत से बंगला में कराने वाले - महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्री ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन।"[1] इस

1 जब कलकत्ता में आर्य सन्मार्ग संदर्शिनी सभा का ऋषि के जीवन काल में आयोजन किया गया तब इनमें से किसने ऋषि के विरुद्ध दी गई व्यवस्था का विरोधा किया? इस जाल ग्रन्थ के प्रकाशकों प्रचारकों ने इस विषय में क्या कभी सोचा है? - जिज्ञासु

जालसाजी का पता इस ही पुस्तक के उत्तरार्ध के पृष्ठ १ से चलता है जिसमें देवेन्द्र नाथ ठाकुर आदि विद्वानों ने ऋषि के मुख से निकली हुई संस्कृत भाषा को संस्कृत भाषा और संस्कृत लिपि में लिपिवद्ध करने के लिए कुछ संस्कृत विद्वानों को नियुक्त किया था। **इस लिये सच्चिदानन्द का यह कहना कि संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराने वाले देवेन्द्रनाथ आदि थे सर्वथा झूठ** और जालसाजी है क्योंकि दीनबन्धु ने स्वयं अपनी पृष्ठभूमि में इसका विरोध किया है।

एक और जालसाजी सच्चिदानन्द की यह है कि "योगी का आत्मचरित्र ३६ वर्ष की अज्ञात जीवनी है।" यह कथन उस पृष्ठभूमि के विरुद्ध है जिसमें दीनबन्धु ने सन् १९२३ के कलकत्ता समाज की सभा में पं0 रसिक मोहन विद्या भूषण के वक्तव्य को उद्घृत किया है जिसमें कहा गया है कि-

झूठ पर झूठ : "उस समय तक ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन के करीब ५० वर्षों की प्रधान-प्रधान घटनाओं को सुनाया था।" रसिक मोहन जी का यह वक्तव्य सर्वथा सत्य प्रतीत होता है क्योंकि स्वामी जी की आयु कलकत्ता पहुंचने में ४८ वर्ष की हो चुकी थी क्योंकि ऋषिवर का जन्म सन् १८२४ में हुआ था और वे कलकत्ते में १६ दिसम्बर १८७२ में गये थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने ४८ वर्ष की जीवनी के सम्बन्ध में प्रधान-प्रधान घटना सुनाते। उस समय तक ऋषि की कोई जीवनी छपी भी नहीं थी इसलिए ऋषि ने कलकत्ते की सभाओं में अपने जन्म १८२४ से सन् १८७२ तक की विशेष-विशेष घटनाओं को ही सुनाया जैसा कि उन्होंने सन् १८७५ में पूना में और १८८० में थ्योसोफिस्ट में अपनी जीवनी की मुख्य-मुख्य घटनाएं ही छपवाई थीं।[1] इसलिए

1 ऋषि के जीवनकाल में इसकी कुछ सामग्री 'भारतसुदशा प्रवर्त्तक' आर्य पत्र में भी छप गई। दीनबन्धु सच्चिदानन्द के जाल ग्रन्थ में राव करण सिंह की घटना तथा शास्त्रार्थों का वृत्तान्त क्यों नहीं? क्या ये घटनायें ऋषि के लिए महत्वहीन थीं? - जिज्ञासु

सच्चिदानन्द का यह कहना निराधार है कि उन्होंने ३६ वर्ष की अपनी जीवनी सुनाई थी। स्वामी दयानन्द का वास्तविक और क्रान्तिकारी जीवन तो गुरुवर विरजानन्द जी से विदा होने के बाद ही प्रारम्भ हुआ था जिसमें घटनाओं और आपत्तियों के पहाड़ उनको चकनाचूर कर रहे थें ये घटनाएं सन् १८६३ से लेकर सन् १८७२ तक अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई थीं। दीनबन्धु ने और सच्चिदानन्द ने इन 9 वर्षों की घटनाओं का वर्णन क्यों नहीं किया? इसका स्पष्ट कारण यह है कि यह पार्टी ऋषि दयानन्द के वेद प्रचार, वेदभाष्य, ईसाई, मुसलमान, ब्राह्म समाजी और सैकड़ों अवैदिक मतों और पुराण आदि झूठे ग्रन्थों के खण्डन को पसन्द नहीं करती बल्कि उनके झूठे मतों का समर्थन करती है। और आर्य समाज के सिद्धान्तों को खेल तमाशों के रूप में दिखाना चाहती है।

इस ही पुस्तक के दूसरे मुख पृष्ठ में मोटे अक्षरों में एक शीर्षक लिखा है:- "मेरे परम मित्र पं0 प्रवर ईश्वर चन्द्र विद्या सागर का अनुरोध"[1]

'योग की साधना के बारे में आपके अनुभव में जो कुछ भी है आप करीब-करीब सब कुछ बोलने की कृपा करें। क्योंकि किताबों में ज्ञान का रहस्य मिलता है साधना का रहस्य नहीं मिलता।" "विद्या सागर जी का अनुरोध मुझे सहर्ष स्वीकार है। मैं यथा शक्ति इसका वर्णन कहूंगा।" योगेश्वर महर्षि दयानन्द।"

यह नाटक के समान एक तमाशा दिखाना मात्र है। न तो विद्या सागर के समान बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार का मूर्खता पूर्ण अनुरोध कर सकते थे और न ऋषि दयानन्द जैसा मनीषी इस प्रकार के अनुरोध को स्वीकार कर सकता था। **यह अनुरोध तो ऐसा ही है जैसे किसी**

---

1 छलेसरए कर्णवास, सौरों आदि स्थानों के राजपूतों में तो ऋषि का कोई परम मित्र दीनबन्धु को दिखाई न दिया। वेदोदय तो वहीं हुआ था। ऋषि के विरुद्ध व्यवस्था पर हस्ताक्षर करने वाले श्री ईश्वरचन्द्र को 'परममित्र' बताया जा रहा है। इसी से इस कपट की पोल खुल जाती है। - जिज्ञासु

व्यक्ति को भैंसों के सामने बीन बजाने का अनुरोध किया जावे। यह काम तो बाजीगरों का होता है कि जिस किसी ने तमाशा दिखाने के लिये कहा तो वह झट अपना पिटारा खोलकर बैठ जाए। गलियों में या सभाओं में योग नहीं सिखाया जाता। विद्या सागर जी भी बहुत बड़े विद्वान् थे वे स्वयं अनुभव कर चुके थे कि योग विद्या बड़ी दुरूह और गहन विद्या है। यह ऐरे गैरे को नहीं सिखाई जाती और न कही जाती, यह तो किसी वैराग्यवान के लिए ही कही जाती है। सन् १६२३ की कलकत्ते की आर्य समाज की सभा में स्वयं दीनबन्धु जी ने एक शतवर्षीय विद्वान् रसिक मोहन के वक्तव्य को उद्धृत किया है कि ऋषि ने कलकत्ते में रहते हुए अपने जीवन की मोटी-मोटी बातों का वर्णन किया था। विस्तार के साथ कुछ भी नहीं कहा। इस मूर्खता का क्या ठिकाना है? कि ऋषि दयानन्द से कहा जाये कि वह जन साधारण के सामने अपने २२-२३ वर्ष तक दिन रात तप के द्वारा अर्जित किये हुए आध्यात्मिक और यौगिक ज्ञान के भंडार को चन्द घण्टों में उड़ेल कर रख दे ! यह सब कुछ दीनबन्ध की कल्पित कहानी है। ऋषि दयानन्द ने अपने योग सम्बन्धी सभी अनुभवों को सामान्यतया अपने सभी व्याख्यानों, वार्तालापों, शास्त्रार्थों और दैनिक चर्याओं द्वारा प्रकट कर दिया था परन्तु विशेषतया ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना योग प्रकरण और मुक्ति विषय में वर्णन कर दिया है वही प्रमाण के योग्य है। उसके विपरीत लिखा हुआ सब कुछ जालसाजी है। इस जालसाजी में आनन्द स्वामी का बड़ा हाथ है। इस लिये उनके साहित्य की ओर से भी सावधान रहना चाहिये।

मैं "योगी के आत्म चरित्र" नाम की पुस्तक को जाली मानता हूँ और इस पुस्तक को लिखने वालों का उद्देश्य आर्य समाज के सिद्धान्तों को भ्रष्ट करना मानता हूँ। इस जालसाजी का अगुआ आनन्द स्वामी है और इसका संयोजक सच्चिदानन्द योगी, सहायक स्वा0 विज्ञानानन्द और प्रेरक दीनबन्धु आदि व्यक्ति हैं, पहले आनन्द स्वामी के सम्बन्ध में सुनिए:-

इस पुस्तक की प्रशंसा हेतु आनन्द स्वामी ने लिखा – "दिसम्बर १६७० में जब मैं कलकत्ता गया तो पं0 दीनबन्धु ने मुझे यह सारी सामग्री दिखायी जिससे महर्षि दयानन्द जी की अज्ञात जीवनी का पर्याप्त पता लगता है। दिल्ली लौटकर आने पर मैंने सच्चिदानन्द 'योगी' सरस्वती से प्रार्थना की कि आप कलकत्ता पधारिये और सामग्री के विषय में अनुसन्धान करके किसी तथ्य पर पहुंचिये।

स्वामी सच्चिदानन्द जी ने धर्म शास्त्रों का भली भांति अध्ययन किया है। वे योग मार्ग के अनुभवी पथिक हैं। ऐसे महानुभाव ही परमयोगी दयानन्द के विषय में निश्चित बात कह सकते हैं। उन्होंने कलकत्ता में सवा मास निवास करके उपर्युक्त सामग्री का अनुशीलन किया और एक पुस्तक तैयार की, जिसको तैयार करने में स्वामी सच्चिदानन्द जी को घोर परिश्रम करना पड़ा। महर्षि दयानन्द जी के जीवन की वह गाथाएँ जो अब तक रहस्य में थीं इस आत्मचरित्र के द्वारा प्रकट कर दी गयी हैं।

स्वामी सच्चिदानन्द जी का यह परिश्रम सराहनीय है।[1] निश्चित रूपेण दुनिया के लोग देख सकेंगे कि महर्षि दयानन्द क्या थे ? उन्होंने अपना जीवन कितनी तपश्चर्या से बनाया था। अन्त में:–

'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'

के अनुसार वेद को ही सारी दुनिया की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का स्रोत बताया।

स्वामी सच्चिदानन्द जी ने जो भूमिका लिखी है, उसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द ने स्वातन्त्र्य संग्राम में क्रियात्मक रूप से भाग लिया। यह भूमिका दुनिया की आँखें खोल देगी। यह

---

1 योगी सच्चिदानन्द जी ने न तो इससे पहले और न इसके पश्चात् ऋषि पर विरोधियों द्वारा किये गये किसी प्रहार का प्रतिकार करते हुए कभी कोई पठनीय लेख लिखा। अतः वह ऋषि जीवन पर क्या अनुसन्धान कर सकते थे? इस प्रमाणपत्र का क्या महत्व है? – जिज्ञासु

भूमिका क्या है ? ऋषि दयानन्द के जीवन पर अकाट्य गवेषणा पूर्ण निबन्ध है।'' आनन्द स्वामी

आनन्द स्वामी जी ने इस पुस्तक की प्रशस्ति में जो लिखा है वह उनका अपने आप मियां मिट्ठू बनना है। और आर्य समाज की व्यवस्था को बिगाड़ना है। जब वह कलकत्ता गये और दीनबन्धु जी ने उन्हें सारी सामग्री दिखायी जिससे ऋषि दयानन्द जी को अज्ञात जीवनी का पर्याप्त पता चलता है। तो उनका कर्त्तव्य था कि वह सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों को उसकी सूचना देते और उनको प्रेरणा देते कि सभा ऋषि दयानन्द की इस अज्ञात जीवनी की वास्तविकता जानने के लिए ऐसे विश्वस्त विद्वानों की एक समिति स्थापित करे जो इतिहास शास्त्र के मर्मज्ञ हों और ऋषि दयानन्द की उन सब जीवनियों और ऋषि के सिद्धान्तों से परिचित हों। ऋषि दयानन्द की जीवनी का सम्बन्ध सारे आर्य जगत् के साथ है। ऋषि की जीवनी का विषय आनन्द स्वामी के घर का मामला नहीं था। ऋषि दयानन्द ने उस समय के विशिष्ट सज्जनों से मिलकर आर्य समाज के संगठन को दृढ़ करने के लिए दस नियम बनाये थे। उनमें से दसवें नियम में लिखा था 'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतन्त्र रहें।' किन्तु आनन्द स्वामी ने अपने आप को आर्य समाज का सर्वे सर्वा मानकर आर्य समाज के नियम की अवहेलना की और अपने एक क्रीतदास को जिसकी आर्य समाज और दयानन्द में आस्था नहीं कलकत्ता भेजा ताकि दीनबन्धु की तैयार की हुई उस जाली सामग्री को देखकर उसमें अपनी जालसाजी को मिलाकर एक ऐसा मजबूत षड्यन्त्र बना सके जो आर्य समाज के संगठन को नष्ट भ्रष्ट कर सके। इसी प्रकार की एक मनमानी कार्रवाई सन् १९५८ में आर्य समाज की ओर से चलाये गये हिन्दी सत्याग्रह को ठप करने के लिए आनन्द स्वामी ने हिन्दी रक्षा समिति के साथ विश्वासघात करके रक्षा समिति की सम्मति लिये बिना समाचार पत्रों में एक लेख छपवा कर की थी। उसमें उन्होंने लिखा:-

भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने जा पत्र पूज्य श्री स्वा० आत्मानन्द जी महाराज के नाम लिखा है उस पर ठंडे दिल से विचार करने के बाद मेरी सम्मति है कि हिन्दी सत्याग्रह स्थगित कर देना चाहिये।[1] आनन्द स्वामी की इस मनमानी कार्यवाई से आर्य समाजी जगत् में उनके विरुद्ध एक तूफान उठ खड़ा हुआ। और उनके विरुद्ध एक घोषणा हुई कि आनन्द स्वामी के लिए हिन्दी रक्षा समिति की वेदी बन्द कर दी गई है। किसी भी आर्य समाज में उन्हें भाषण की आज्ञा नहीं दी जायेगी। इसके फलस्वरूप उन्हें क्षमा माँगनी पड़ी और उनको लिखना पड़ा कि "मैं समझता हूँ कि मुझे अपनी सम्मतिं समाचार पत्रों में भेजने के बजाय आर्य नेताओं को भेजनी चाहिये थी।" आनन्द स्वामी के नाम को बड़ा उछाल कर इसलिये नहीं लेते कि वे महर्षि दयानन्द के बहुत बड़े भक्त हैं, अपितु इसलिये लेते हैं, ताकि आर्य समाजियों को धोखा दिया जा सके। और इसकी ओट में ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को नष्ट किया जा सके। जब से आनन्द स्वामी ने होश संभाला तब से लेकर मरण पर्यन्त इसी षड्यन्त्र में लगे रहे कि ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तो को मटियामेट किया जा सके। सब आर्य समाजी लोग जानते हैं, कि ऋषि दयानन्द रामलीला आदि स्वाँगो के अत्यन्त विरुद्ध थे और कर्णवास में गंगा के तट पर राव कर्ण सिंह की तलवार का निशाना भी इसी लिए बने थे कि उन्होंने रामलीला का खण्डन किया था। किन्तु आनन्द स्वामी ने जबकि उनका नाम खुशहाल चन्द था और वे एक पक्के आर्य समाजी मुन्शी गणेश दास जी के पुत्र थे और स्वयं को आर्य समाजी कहते थे अपने गाँव जलालपुर जट्टाँ में इस निषिद्ध कार्य का प्रचार करते थे। इसका वर्णन उनके पुत्र रणवीर सिंह ने इस प्रकार किया है:-

---

1 मुझे आनन्द स्वामी जी के निकटस्थ व्यक्तियों में से एक प्रादेशिक सभा के यशस्वी विद्वान् ने तभी बताया था कि यह योजना डी.ए.वी. के वकीलों, जजों व प्रिंसिपलों ने बनाई थी। वक्तव्य रणवीर ने पत्रों में दिया था। अपने इस पुत्र से मोहवश वह दबे रहते थे। पुत्रमोह में उनको तब घोर अपमान सहना पड़ा था। - जिज्ञासु

यह जीवन एक पुराण ही है : "प्रातः का समय था। धूप अभी निकली न थी। उजाला कम ही था। मुन्शी गणेश दास जी नित्य नियमानुसार अपनी दुकान खोल रहे थे, क्योंकि ग्राहक का कोई समय नहीं होता किसी भी समय वह आ सकता है उस दिन वह दुकान खुलते ही आ गया शायद वह कोई एंग्लोइंडियन था। सिर पर हैट, बदन पर कोट, नीचे पतलून, हाथ में पतली सी छड़ी, आँखों पर काला चश्मा, मूँछे बड़ी-बड़ी.... मुन्शी जी किवाड़ खोल रहे थे तो उसने उनके निकट आकर कहा, "साहब ! इधर कोई मुन्शी गणेश दास का दुकान है आप जानते हैं वह किधर है?" मुन्शी गणेश दास ने एंग्लोइंडियन को देखते हुए उत्तर दिया - "मेरा नाम ही मुन्शी गणेश दास है यह मेरी दुकान है।" साहब बोला - वैल! वैल! यह तो अच्छा हुआ कि आप मिल गया हम लाहौर से आया है कलकत्ता की एक बहुत बड़ी फर्म का हम एजेन्ट है। हम को मालूम हुआ है कि आपका कोई लड़का इधर जुराब बनाने का कारखाना जारी किया है। मुन्शी जी ने रुचि लेते हुये कहा - जी! मेरा लड़का खुशहाल चन्द यह काम करता है।" साहब बोला - "हमने सुना है आप की जुराब अच्छा है।" मुन्शी जी ने जोश के साथ कहा - "बहुत अच्छा साहब! हम हर तरह की जुराबें बनाते हैं।" साहब ने बताया- हमको बहुत जुराबें चाहिए सब आप से खरीदेगा। अभी नमूने के लिए केवल एक सौ दर्जन खरीदेगा ये बीस रुपया पेशगी का रखिये, हम परसों आयेगा जुराब को देखकर बन्द करायेगा।" साहब के चले जाने पर मुन्शी गणेश दास कारखाने में गये। और नौकरों को सख्त ताकीद दी कि जुराब बनाने का कार्य तेजी से करो ताकि तीसरे दिन साँय काल तक एक सौ दर्जन जुराबें तैयार हो जाएं। सब नौकर बड़ी तत्परता से काम करने लगें और सौ दर्जन जुराबों से भी अधिक जुराबें तैयार कर दीं परन्तु वह व्यापारी पाँच दिन तक भी नहीं आया तो गणेश दास जी ने कहा कि वह किसी घटना में ग्रस्त हो गया है। परन्तु वह आवेगा अवश्य क्योंकि वह बीस रुपये पेशगी दे गया है, खुशहाल चन्द ने कहा- "वह नहीं आयेगा

आप बीस रुपये मुझे दे दीजिये वे मेरे हैं'' मुन्शी जी ने चौंक कर पूछा – ''नहीं आयेगा रुपये तेरे हैं'' क्या मतलब? खुशहाल चन्द जी ने कहा– ''वे मूंछे नकली थी हैट और कोट नकली थे''.... मुन्शी जी आश्चर्य से बोले– ''तो तुम ही वे व्यापारी थे?'' खुशहाल चन्द जी हँस पड़े कहा– कारखाने के नौकर काम नहीं करते थे कठोरता मुझ से होती नहीं इसलिए मैंने सोचा ....''।

रणवीर जी कहते हैं– ''लेकिन नवयुवक खुशहाल चन्द जी ने वेश बदलने का यह खेल एक ही बार तो नहीं किया कितने प्रकार के वे वेश बदलते थे। उनके साथियों ने बताया कि खुशहाल चन्द जी इस मार्ग पर न चलते जिस पर बाद में वह चले तो बहुत बड़े जासूस होते। वह इस प्रकार रूप बदलते थे कि उनके निकटतम सम्बन्धी भी उन्हें नहीं पहचान सकते थे।'' फिर आगे लिखा– ''जलालपुर जट्टाँ के पास एक नाला है उसी नाले के किनारे महन्तों का बाग है.... उस नाले में या उसमें ही कहीं उन्होंने अपना वेश बदलने का सामान धरती तले दबा रखा था वहाँ से वह रूप बदलकर आ जाते थे और लोगों को आश्चर्य में डाल देते थे। कई त्यौहारों पर वह अन्य लोगों के साथ नाटक भी खेलते थे जिसके संवाद खुशहाल चन्द जी लिखते थे,, गीत उनके छोटे भाई त्रिलोक चन्द जी। उन नाटकों में अभिनय करने वालों में मेकअप खुशहाल चन्द जी करते थे। एक बार संभवतः दशहरे के दिनों में एक नाटक खेला गया, जिसका नाम था श्रीराम' उस नाटक में राम बने मेरे चाचा त्रिलोक चन्द जी, कौशल्या बने मेरे मामा अमरनाथ जी, सीता बने मेरे छोटे मामा जी उन सब को राम कौशल्या, सीता आदि बनाया स्वयं खुशहाल चन्द जी ने, ऐसे ही कितने नाटक वे खेलते थे आर्य समाज का भी प्रचार करते थे।''

---

1 रणवीर एक सिद्धहस्त कहानीकार व लेखक थे। इस कहानी का झूठ जानकार ही पकड़ सकता है। क्या पिता ने पुत्र की आवाज भी न पहचानी? आनन्द स्वामी जी का रंग एँग्लोइंडियन जैसा था ही नहीं। – जिज्ञासु

आगे फिर लिखा:-

"लेकिन.... मैं उनके रूप स्वाँग बदलने की बात बतला रहा था। ईश्वर जाने वेश बदलने की सामग्री उन्होंने कहाँ से ली और यह कला कहाँ से सीखी, किन्तु यह सत्य है कि वह वेश बदलने में प्रवीण थे, एक दिन प्रात: ही महन्तो के बाग से नहा धोकर आये तो अपनी माता से बोले- माताजी! एक साधु बाग में आया है। मैं उसे खाने का निमन्त्रण दे आया हूँ। दोपहर के समय उन्हें ले आऊंगा। उसके लिए अच्छा सा खाना बना दीजिए।" माताजी ने कहा,- "बना दूँगी बच्चा! तूने साधु को खाने के लिए बुलाया, अच्छा किया उसे साथ ले आना।" खुशहाल चन्द जी ने जाने से पहले कहा- "मैं साधु को ले आऊंगा माताजी! लेकिन अगर मुझे काम ज्यादा हुआ तो बाबा को अकेले ही भेज दूँगा। आप उसे खाना खिला ही दीजियेगा" - दोपहर के समय वह साधु बाबा अकेले ही आ पहुँचे.... श्वेत दाढ़ी श्वेत जटा, कमर तक धोती लपेटे, एक हाथ में लम्बा चिमटा, काँख में मृगछाला दबाये पाँव में पादुका! माताजी ने उन्हें देखा, और दूर से ही नमस्कार कर दिया। आसन बिछा दिया, उनके हाथ धुलाये और सामने खाना परोस दिया। साधु बाबा हाथ उठा कर आशीर्वाद देते रहे, मुख से एक शब्द भी न बोले। माताजी ने समझा बाबा मौनी हैं। अत: उसे बुलाया नहीं। अच्छी प्रकार भोजन कराने के बाद पांव छूने के लिये झुकी तो बाबा चौंक कर मृग छाला पर खड़े हो गये। जो उन्होंने आसन के ऊपर बिछा रखी थी। माताजी ने आश्चर्य से बाबा की ओर देखा, तो बाबा की हंसी छूट गयी। माताजी ने आवाज पहचानी और विस्मय से बोली, "अरे! खुशहाल है ठहर तो जरा तेरे दाढ़ी देखूँ।" लेकिन बाबाजी नहीं ठहरे। मृग छाला पादुका और चिमटा छोड़कर इस तरह भागे जैसे कि भागना परम धर्म है। शाम को जब खुशहाल चन्द जी घर आये तो माताजी ने डांटते हुए कहा, "उल्लू! तू साधु क्यों बना था?" खुशहाल चन्द जी ने हंसते हुए कहा- "यही बात तो साधु जी भी कहते थे। साधु बनने से पहले उसका नाम खुशहाल चन्द था। आपने

खुशहाल कहा तो उसने समझा कि आप उसे जानती हैं। इसी लिए वह भागा, अपना चिमटा व मृग छाला भी छोड़ गया।'' सरल भोली माँ बोली- ''अच्छा! इसलिये भाग गया वह? लेकिन उसकी आवाज तेरी तरह ही थी।'' खुशहाल जी बोले, ''आवाज तो कई लोगों की आपस में मिलती है।'' माताजी बोली, ''तब तो बुरा हुआ बेचारे की वस्तुए भी यहीं रह गयी।'' खुशहाल चन्द जी ने आश्वासन दिया, ''मैं उन्हें पहुँचा दूंगा आप चिन्ता न कीजिये।''

रणवीर ने खुलकर मांस भक्षण का प्रचार किया : श्री खुशहाल चन्द जी आर्य गजट के सम्पादक थे। आर्य गजट आर्य समाज की उस डी.ए.वी. कालेज पार्टी का सरकारी अखबार था जिसका विश्वास रहा हैकि माँस खाना अधर्म है। लेकिन ऐसा पाप भी नहीं जिसके कारण किसी व्यक्ति को घृणा के योग्य समझा जाए। इसके विपरीत 'प्रकाश' समाचार पत्र में डी.ए.वी. कालेज पार्टी और मांस भक्षण का कड़ा विरोध होता था। 'प्रकाश' समाचार पत्र गुरुकुल पार्टी का सरकारी पत्र नहीं था। वह बाबू राधा कृष्ण का निजी स्वामित्व था। अपने लेखों के नीचे केवल कृष्ण लिखा करते थे। इसी कारण 'महाशय कृष्ण' के नाम से प्रसिद्ध थे। सामान्यतया उनकी वास्तविकता यह है कि डी.ए.वी. कालेज पार्टी के सभी नेता मांस नहीं खाते, फिर भी ऐसे आक्षेप तो होते थे। जितनी उग्रता से 'प्रकाश' अखबार में ये आक्षेप होते, उतनी ही उग्रता से उन दिनों अच्छी खासी बहस जारी थी। इस बहस में जहाँ हजारों लोग भाग लेते, वहाँ एक युवक अमरनाथ जी बाली उन दिनों शायद कोहाट में रहते थे, 'प्रकाश' पत्र की दलीलों के समर्थक एवं गुरुकुल के अनुयायी बन गये। आर्य गजट में दिये गये तर्क भी अमरनाथ को उचित प्रतीत नहीं होते थे। एक बार वह लाहौर आये। वह इस विचार से श्री खुशहाल चन्द जी से मिले कि उनसे खुलकर बातें कीं। आर्य गज़ट के कार्यालय में पहुँच कर उन्होंने विवाद छेड़ दिया। वह मांस भक्षण के विरुद्ध तर्क देने लगा। खुशहाल चन्द जी सुनते रहे। कुछ ही देर बाद उस नौजवान को मालूम

हो गया कि उसके अपने तर्कोंमें कोई औचित्य नहीं, कोई संगति नहीं। जब वह 'आर्य गज़ट' के कार्यलय से निकले तो यह विश्वास लेकर कि माँस भक्षण पाप तो है, किन्तु इतना बड़ा और महत्वपूर्ण नहीं कि इसके सामने अन्य अपराधों को तुच्छ समझा जाये। उसी दिन वह गुरुकुल पार्टी की अपेक्षा डी.ए.वी. कालेज पार्टी के समर्थक बन गये। 'प्रकाश' की बजाय आर्य गज़ट पढ़ने लगे। बाद में वह डी.ए.वी. स्कूल और डी.ए.वी. कालेज में भी पढ़े। डी.ए.वी. कालेज में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक भी बने कैप्टिन अमरनाथ बाली के नाम से विख्यात हुए। और जीवन भर माँस भक्षण का प्रचार करते रहे। सम्भवतः अब भी करते हैं।" (पृष्ठ १०७, १०८) खुशहाल चन्द जी की यह जीवनी उनके पुत्र रणवीर जी द्वारा लिखी गयी है। यह जीवनी उस समय की है जब खुशहाल चन्द नौजवान था। आर्य समाजी था, और आर्य गज़ट का सम्पादक था। इसके साथ एक नवयुवक व्यक्ति का भी प्रसंग छेड़ दिया जिसका नाम महाशय कृष्ण था। खुशहाल चन्द जी और बाद में आनन्द स्वामी जी ऊंचे स्वर से ऋषि दयानन्द को परम योगी तो कहते रहे, किन्तु ऋषि दयानन्द के कथनों और सिद्धान्तों में उनकी कितनी आस्था थी? इसका पता रणवीर सिंह के लेखों से चलता है। सब जानते हैं, कि ऋषि दयानन्द प्राचीन महापुरुषों की नकल उतारने के अत्यन्त विरुद्ध थे। चाहे रामलीला हो, रासलीला, नाटक हो, स्वाँग हो, इन सब को वे देश के चरित्र को बिगाड़ने वाला समझते थे। क्योंकि सब जानते हैं कि किसी प्रकार के रूप बदलने में झूठ ही झूठ है, और दूसरों को धोखा देना होता है। और इस छलने और धोखा देने में खुशहाल चन्द जी ने इतना अभ्यास कर लिया था कि उन्होंने अपने पूज्य पिताजी और सीधी सरल पूजनीया माताजी को ठगने में किंचित भी लज्जा नहीं की। खुशहाल का यह एक पेशा बन चुका था और इस पेशे में दूसरे नवयुवकों को भी सम्मिलित किया हुआ था। वह बहुरूपियापन उनके जीवन का अंग बन चुका था जो मरण पर्यन्त उनके साथ रहा। ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के दस नियम बनाये, उनमें छटा नियम था– "संसार का

उपकार करना, इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, सामाजिक, और आत्मिक उन्नति करना,'' इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने जगह-२ व्याख्यान दिये। अनेकों पुस्तकें लिखीं। वेदों का भाष्य किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में मनुष्य के जीवन को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए १४ समुल्लास लिखे। जिनमें मनुष्य के गर्भ में आने से लेकर मरणपर्यन्त उसके जीवन की विधि और नियम लिखे।

दसवें समुल्लास में

'आचारानाचारभक्ष्याभक्ष्य' विषय का वर्णन किया। आचार की परिपुष्टि और अनाचार के विनाश के लिए भक्ष्य' और अभक्ष्य के विवेचन की अत्यन्त आवश्यकता थी, क्योंकि शुद्ध आहार से बुद्धि पवित्र और शरीर पुष्ट होता है। और अशुद्ध आहार से बुद्धि अपवित्र और शरीर रोगी होता है। इसलिये ऋषि ने इस समुल्लास में मद्य और माँस का खाना और पीना वर्जित लिखा है। ऋषि दयानन्द के उद्घोष से लाखों मनुष्यों ने मद्य और मांस का सेवन सर्वथा छोड़ दिया। उस जमाने में पंजाब में आर्य समाज की बड़ी धूम थी। मद्य और माँस के विरुद्ध एक तूफान सा खड़ा हो गया था। लाखों मनुष्यों ने माँस का खाना छोड़ दिया था। उन्हीं दिनों एक नौजवान मैदान में आया। उसका नाम था 'बाबू राधा कृष्ण' वह जन्म से खत्री था उसने अंग्रेजी में बी.ए. किया था। आर्य समाज का मतवाला हो गया, इसलिए सरकारी नौकरी न करके आर्य समाज के प्रचार में जुट गया। उन्होंने 'प्रकाश' नाम का साप्ताहिक अखबार निकाला। इस पत्र के द्वारा उसने आर्य समाज के प्रचार की धूम मचा दी। बुद्धि बड़ी तीव्र, वाणी बड़ी ओजस्विनी, सत्य बोलने में निर्भय, आर्य समाज के सिद्धान्तों में ढला हुआ जीवन, और साथ ही लेखन शैली अतीव प्रभावशाली, पढ़ने वाले के दिल और दिमाग में बैठ जाने वाली थी। उन्होंने अपने आपको दयानन्द के आदेशानुसार बनाने का प्रयत्न किया।

पहले अपने नाम में संशोधन किया। पहले नाम था "राधा कृष्ण" फिर संशोधित नाम कृष्ण'। राधा कृष्ण सार्थक नाम नहीं था। राधा कृष्ण को पौराणिक साहित्य ने बड़ा दूषित कर दिया था। अतः उन्होंने पहले यही सुधार किया। दूसरे यह संशोधन किया कि 'बाबू' की जगह 'महाशय' उपनाम रखा बाबू शब्द में यह दोष दिखायी दिया कि इससे बहुत बड़े व्यक्ति होने की, और अंग्रेजी का विद्वान होने की बू आती थी। और महाशय शब्द से समानता और सच्चरित्रता की सुगन्धि प्रतीत होती थी, इसलिए नाम हो गया 'महाशय कृष्ण'। उसी जमाने में लाला खुशहाल चन्द भी मैदान में आये, वे भी नवयुवक थे। डी.ए.वी. कालेज-पार्टी के सरकारी अखबार आर्य-गजट के सम्पादक बने। 'रणवीर' जी ने अपनी पुस्तक के पृ. १०७, १०८ में यह सारा वर्णन किया है। उधर महाशय कृष्ण जी माँस भक्षण का बड़े जोर शोर से खंडन करते थे और माँस भक्षण से बुद्धि व बल की हानि तथा मनुष्यता के सद्गुणों का ह्रास सिद्ध करके हजारों मनुष्यों को माँस भक्षण से हटा रहे थे, उधर लाला खुशहाल चन्द जी उतने ही जोर से माँस भक्षण के लाभ और गुणों का प्रचार करते थे, और उन्होंने भी हजारों व्यक्तियों को माँसाहारी बनाया। अमरनाथ बाली को महाशय कृष्ण के अखबार 'प्रकाश' को पढ़ कर माँसाहार का विरोधी हो चुका था, उसको खुशहाल चन्द जी ने कट्टर माँस भक्षी बना दिया। मेरा अमरनाथ बाली के सम्बन्ध में निजि अनुभव है। मैं सन् १९२२ में ब्राह्म विद्यालय लाहौर में संस्कृत पढ़ने गया, मैं वहाँ तीन वर्ष रहा, विद्यालय कालेज पार्टी की ओर से खोला गया था, वख्शी जैसी राम की कोठी में यह खोला गया था। इस कोठी का एक दरवाजा शहर की ओर था और दूसरा बाहर खेतों की ओर। सन् २३ की बात है कि अमरनाथ बाली पक्षियों का शिकार करने के लिये विद्यालय के अहाते से आने जाने लगा वह पक्षियों को मारकर उन्हें खुले तौर पर विद्यालय के अहाते से गुजरने लगा। विद्यालय में मेरे जैसे कई ऐसे व्यक्ति मौजूद थे जो कट्टर शाकाहारी थे और माँस को देखकर अत्यन्त घृणा करते थे। हमने अपने

आचार्य विश्वबन्धु जी[1] से शिकायत की कि अमरनाथ को इस रास्ते से जाने से रोक दे? परन्तु उन्होंने रोकने के बजाय हमें बतलाया कि वेद में भी माँस खाना क्षत्रियों के लिए विहित है। इस बात की कई दिन तक चर्चा चलती रही और पता चला कि कालेज पार्टी के कई उपदेशक स्वयं मांस खाते हैं। और मांस भक्षण का प्रचार करते हैं। कुछ उपदेशक जो दूसरे प्रान्तों के थे, मांस का प्रचार तो नहीं करते थे, किन्तु वे मांस भक्षण का विरोध नहीं करते थे। यदि वे विरोध करेंगे तो कालिज पार्टी के उपदेशक नहीं रह सकते। कालेज पार्टी की ऐसी नीति को जानकर मैं १९२४ में जबकि मैं विद्या वाचस्पति में पढ रहा था विद्यालय को छोड़कर चला आया। मुझे यह भी पता चल चुका था कि मांस भक्षण के प्रचार में खुशहाल चन्द जी का बड़ा योगदान था। इससे पाठक समझ सकते हैं कि खुशहाल चन्द दयानन्द के सिद्धान्तों के कितने समर्थक थे?''

आनन्द स्वामी का झूठ बोलना:-

खुशहाल चन्द जी मांस खाने को पाप समझते थे, किन्तु इतना बड़ा नहीं कि उससे घृणा की जाए। किन्तु झूठ बोलना तो सबसे बड़ा पाप है। परन्तु यह झूठ भी जन्म से मरण पर्यन्त उनके साथ रहा संन्यासी होकर भी झूठ बोलते रहे। इनके सुपुत्र रणवीर ने भी इनकी सब बातों पर विश्वास नहीं किया, रणवीर जी लिखते हैं- ''स्वामी जी के विषय में अविश्वसनीय बात यह है कि उनका जन्म कब हुआ? इस बात का निर्णय हमारे घर में कभी नहीं हो पाया। मेरा जन्म १९०७ में (दिसम्बर में) हुआ। पिताजी का दावा है कि उस समय उनकी आयु २६ वर्ष की थी। अर्थात् उनका जन्म सन १८८१ में हुआ। मेरी माताजी का दावा था कि उस समय

---

1 विश्वबन्धु जी डी. ए. वी. वालों के सबसे बड़े गुरु और मांसाहार, मांसप्रचार के पैगम्बर थे। इन्हीं के कारण पं. भगवददत्त जी अपमानित होकर डी. ए. वी. से निकल गये। इसी विश्वबन्धु के कारण डी. ए. वी. वाले वेद को ईश्वरीय ज्ञान तथा अनादि नहीं मानते रहे। दिखावा करना दूसरी बात है। - जिज्ञासु

मेरे पिताजी की आयु १६ वर्ष की थी अर्थात् उनका जन्म सन् १८८८ में हुआ आज वह ८६ वर्ष के हैं ऐसा दिखाई नहीं देता इसलिए अधिक उचित यही है कि उनका विवाह जब हुआ तब वह इक्कीस या बाईस वर्ष के थे। इस प्रकार उनका जन्म सन् १८८४ में हुआ।'' (पृष्ठ १०) इससे यह सिद्ध होता है कि ८५ वर्ष के होने पर भी उनके बड़े पुत्र को उनके कथन पर विश्वास नहीं था। इसलिये रणवीर सिंह को फैसला करना पड़ा। न माताजी की बात का विश्वास, न पिताजी की बात का। बुद्धि कुशाग्र नहीं थी। सन् १९२५ में साढ़े अठारह सेर घी अडसठ (६८) रुपये चार आने में किसी सज्जन ने खुशहाल चन्द को बेचा। पत्नी ने पूछा, ''कि एक सेर के कितने दाम हुए?'' खुशहाल चन्द जी और उनके 18 वर्षीय पुत्र देर तक हिसाब के लिये मगज पच्ची करते रहे, किन्तु हिसाब न लगा सके। इस प्रकार की कुण्ठित बुद्धि वाला व्यक्ति ईश्वर और जीव के आध्यात्मिक अति सूक्ष्म विज्ञान को कैसे जान सकता है?

हस्तरेखा देख कर भविष्य के जीवन को बताने का पाखण्ड:-

रणवीर जी कहते हैं- उनका यह गुण मैंने जीवन में कितनी बार देखा है। वह आम ज्योतिषियों की तरह ज्योतिषी नहीं थे। हस्तरेखा के विशेषज्ञ भी नहीं। हां! किसी भी व्यक्ति का हाथ देखकर अगर वह कोई बात कह दें तो वह बात कभी असत्य नहीं होगी। विशेष रूप से प्रातः भजन के समय, उससे पहले या बाद में जो कुछ कहें शत प्रतिशत सत्य सिद्ध होती है। एक बार मैंने उनसे पूछा, ''अगर आप हस्त रेखा विज्ञान नहीं जानते, तो ये भविष्य वाणियां किस प्रकार करते हैं? उत्तर में उन्होंने कहा, 'मैं सचमुच हस्त रेखा विज्ञान नहीं जानता। यह वैसे विश्वस्त भी नहीं है अटकल पच्चू सा विज्ञान है। मैं हाथ देखता हूँ, तो मात्र दूसरे की तसल्ली के लिये। करता वही हूँ जो मेरी अन्तरात्मा की आवाज हो।'' पृष्ठ १०८—१०६

जो विज्ञान विश्वस्त नहीं अपितु अटकल पच्चू सा विज्ञान है।

और जिसको आनन्द स्वामी जानते भी नहीं थे तो भी हस्त रेखा देखते थे इसी को पाखण्ड और झूठ कहते हैं।'' यह पाखण्ड उस समय भी था, जब वह संन्यासी हो गये और योगी भी। **सन् १९७७ के लोक सभा के चुनाव में आनन्द स्वामी की ओर से इन्दिरा जी के समर्थन में पोस्टर छपे जिनमें बड़े मोटे शब्दों में इन्दिरा जी की विजय के लिये भविष्यवाणी की गयी थी।** इसमें पूछा जा सकता है कि वह भविष्यवाणी समाधि अवस्था के बाद की गयी थी या इन्दिरा जी को प्रसन्न करने के लिये? किसी भी अवस्था में की गयी हो, वह झूठी निकली। और आनन्द स्वामी की योग समाधि और संन्यासी होने के पाखण्ड का सारे देश को पता चल गया।

आनन्द स्वामी के झूठ बोलने के सम्बन्ध में रणवीर जी लिखते हैं ''इनके साथ दूसरा गुण यह है कि कट्टरता नाम मात्र की भी नहीं। उनके संन्यास धारण करने के कई वर्ष बाद की बात है कि एक रात वह नई दिल्ली की आर्य समाज रीडिंग रोड में कथा करने के बाद आर्य समाज हनुमान रोड़ में सोने के लिये वापिस जा रहे थे। हम लोग उनके साथ थे। सर्दी पड़ रही थी। हवा बर्फीली थी। एक आदमी ने कहा, ''देखिए, स्वामी जी! सर्दी कितनी तेज है। यह महीना और इतनी वर्षा, फिर कहीं बाढ़, कहीं बारिश, कहीं रेल दुर्घटनाएं, ऐसा जान पड़ता है कि दुनिया के लिए बुरे ग्रह आ गये हैं।'' स्वामी जी बोले, ''तुम ठीक कह रहे हो। भला इस महीने में इतनी सर्दी भी कहीं होती थी। दूसरे आदमी ने कहा ''लेकिन इसमें अनोखापन क्या है? सर्दी, गर्मी, वर्षा, दुर्घटनाएं, हमेशा होती रहती हैं। इस साल भी हैं। इसमें कौन सा अनोखापन है? स्वामी जी ने कहा, ''ठीक तो है, इसमें अनोखापन क्या है ऐसी बात तो होती रहती हैं। दुनिया हमेशा इसी तरह चलती आयी है।'' तो हम लोग हंस पड़े, क्योंकि पूज्य स्वामी जी महाराज दोनों विरोधी बातों को ठीक कह रहे थे। लेकिन यह तो नमूना मात्र है, उस गुण या दुर्गुण का जिसका मैंने उल्लेख किया। अपनी राय के विषय में कट्टरता से काम न लेना,

दूसरे का मन न दुखाना, उनके जीवन का अंग सा बन गया था। यही कारण है कि उन पर हिप्नाटिज्म आसानी से हो जाता है। जिन दिनों वह आर्य गजट के सम्पादक थे, उन दिनों एक हिप्नाटिस्ट साहब लाहौर आये। उनके कहने पर श्री खुशहाल चन्द जी ने कुछ लोहे की कीलें खा लीं कई दिनों तक वह कहते रहे "देखो! उस आदमी ने मुझे लोहे की कीलें खिला दिये, और मुझे कुछ हुआ ही नहीं।" मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में उन्होंने कील कभी खाए ही नहीं।" परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर उल्लेख किया इस को कुछ लोग दुर्गुण या त्रुटि भी कह सकते हैं। स्वर्गीय महता अमींचन्द उनके अच्छे दोस्तों में से थे। प्रायः वह कहते थे:-

"खुशहाल चन्द जी तो 'कड़ाह प्रसाद' हैं जिधर किसी ने मोड़ दिया मुड़ गये। मुझे ऐसा लगता है कि उन्हें यह बात अपनी सुपूज्या माताजी से प्राप्त हुई थी। उनकी मां की भी यही स्थिति थी जिसने जो कुछ कह दिया मान लिया।" पृ0 २४७, इस प्रकार की अनेक घटनाएं हैं जिनमें उन्होंने लोगों से कह दिया कि आप लोगों ने जो सम्मति दी उसका मैं अवश्य पालन करूँगा परन्तु उनसे दूर जाकर उनके विरुद्ध कर दिया। **उनका अधिकतर जीवन इसी प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है।** रणबीर जी द्वारा लिखी गई उनकी जीवनी को पढ़कर यह प्रतीत होता है कि आनन्द स्वामी का किसी भी सिद्धान्त पर दृढ निश्चय नहीं था। वे अपने आप को आर्य समाजी भी कहते थे, परन्तु प्रायः आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य करते थे। इस जीवनी के प्रकाश में पता चलता है कि आनन्द स्वामी में किसी प्रकार की आन्दोलन या संस्था के नेतृत्व करने की क्षमता नहीं थी। वे संन्यासी भी लगभग ३० वर्षों तक रहे, परन्तु संन्यासी के लक्षण उनमें नहीं घटते थे और न ही योग सिद्धियां उन्हें प्राप्त हो सकती थीं। योग की पहली सीढ़ी 'पांच यम' हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। रणवीर जी की पुस्तक से पता चलता है कि खुशहाल चन्द जी ने महाशय कृष्ण के उस आन्दोलन

का बड़े ज़ोर से विरोध किया जिसमें महाशय जी मांस भक्षण का बड़ी तीव्रता से विरोध करते थे। खुशहाल चन्द ने अपने अखबार आर्य गज़ट द्वारा हजारों मनुष्यों को मांस भक्षण के लिए प्रेरित किया। यद्यपि उन्होंने स्वयं मांस न खाया हो? किन्तु दूसरों को मांस भक्षण के लिए प्रेरित करना भी हिंसा है। इसलिए आनन्द स्वामी हिंसा के दोष से नहीं बच सकते। यही बात सत्य की है, जो मनुष्य झूठ को झूठ न कह सके ओर दूसरों के झूठ में अपनी हाँ मिला देवे तो वह झूठ के दोष से बच नहीं सकता। वह झूठा है। आनन्द स्वामी के जीवन की इन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में उनकी यात्राओं के वर्णनों, योगियों, और सिद्धों के दर्शन करने तथा उनके द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने और ईश्वर के दर्शन करने की बातें झूठी ही हैं। उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं, उन्हें देखकर आर्य समाज के विद्वान् लोग यह अनुभव करते हैं कि इन पुस्तकों ने तो दयानन्द के सिद्धान्तों का मटियामेट कर दिया है।

आनन्द स्वामी के पुत्र एक बात और कहते हैं-

आपको स्वामी जी का पता नहीं। यहाँ आपने एक बात कही, उन्होंने हाँ में हाँ कर दी, वहां दूसरे ने कही, स्वामी जी ने उनको भी हाँ कर दी।" इस कट्टरता के न होने का एक प्रमाण है, उनकी यह श्रद्धा, जो हर प्रकार के तीर्थों के लिए उनके मन में मौजूद है। वे जन्म से आर्य समाजी है, मूर्ति पूजा, नदी पूजा, झील पूजा, ऐसी किसी भी पूजा में उनका विश्वास नहीं, इसके बावजूद कोई भी धर्म स्थान हो, चाहे किसी धर्म का हो, वहाँ पहुंचते ही उनके मन में अपार श्रद्धा जाग उठती है। . ... लेकिन तीर्थ के लिए सम्मान और आदर तो उनके मन में बने रहते हैं" पृ0 २४६

"भारत में कोई ऐसा तीर्थ स्थान या धर्म स्थान नहीं जहाँ वे कम से कम एक बार न गये हों। अमरनाथ से लेकर रामेश्वरम् तक सोमनाथ से लेकर मणिपुर के मन्दिरों तक हर जगह पहुंचे हैं। हर जगह बैठकर प्रभु

का स्मरण किया है'' (२५०) ''अब मैं क्या करता! विवश नहाना पड़ा। बाहर आकर ठिठुरते हुए मैंने कहा, ''यहाँ नहाना तो साक्षात मौत को बुलाना है।'' वह गम्भीरता से बोले, **''यह पुण्य तीर्थ है। यहाँ मौत आ जाये तो मुक्ति मिल जाती है।''** इस लेख से पता चल जाता है कि आनन्द स्वामी को आध्यात्मिक विषयों का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं था। और उनमें इतनी योग्यता भी नहीं थी कि आध्यात्मिक विषयों की गहराई तक पहुँच सकें। बहुत समय तक सम्पादक रहे इस लिये अखबारी बातें किस्से कहानियों और चुटकलों तक ही उनकी पहुंच थी। बचपन से ही बहुरुपिए और नाटकीय अभ्यास था। उस ही बहुरुपियेपन का संन्यासीपन और योगीपन में प्रयोग करते रहे। ऐसे व्यक्ति के नेतृत्व में यह पुस्तक 'योगी का आत्मचरित्र' लिखी गई। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पुस्तक कहाँ तक सच्ची कही जा सकती है?

इस पुस्तक की झूठी प्रशंसा करते हुए आनन्द स्वामी ने लिखा- ''स्वामी सच्चिदानन्द जी ने जो भूमिका लिखी उसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द ने स्वातन्त्र्य संग्राम में क्रियात्मक रूप में भाग लिया। यह भूमिका दुनिया की आंखे खोल देगी, यह भूमिका क्या है? ऋषि दयानन्द के जीवन पर अकाट्य गवेषणा पूर्ण निबन्ध है।'' आनन्द स्वामी ने इस मूल पुस्तक की पुष्टि में एक शब्द भी नहीं कहा। पुस्तक का नाम है 'योगी का आत्मचरित्र' इनके लेखक हैं 'श्री दीनबन्धु जी। दीनबन्धु जी ने यह पुस्तक २४३ पृष्ठों में लिखी है। आनन्द स्वामी ने मूल पुस्तक को छुआ भी नहीं। इसके विपरीत भूमिका की प्रशंसा की है। और बिना सोचे उसमें ऋषि दयानन्द को ५७ की क्रान्ति युद्ध में क्रियात्मक रूप से भाग लेने वाला कहा है। परन्तु मूल पुस्तक के २४३ पृष्ठों में से एक पृष्ठ में भी स्वामी जी का १८५७ की क्रान्ति में भाग लेना सिद्ध नहीं

टिप्पणी: इस पुस्तक को छपे १० वर्ष हो चुके परन्तु इस पुस्तक को कोई जानता भी नहीं इस से आनन्द स्वामी की डींग की पोल खुल गयी।

होता। इसमें यही कहावत घटती है- 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त।' भूमिका लेखक का कर्त्तव्य होता है कि वह मूल पुस्तक की पुष्टि करे, न कि अपनी कल्पना से वे बातें लिखे जो मूल पुस्तक के विरुद्ध सिद्ध हों। मैंने अपनी पुस्तक में यह सिद्ध कर दिया है कि सच्चिदानन्द ने दो किश्तियों में पैर रखने का यत्न किया है। परन्तु आनन्द स्वामी ने ऐसी बेतुकी भूमिका की प्रशंसा की है। ऋषि दयानन्द के क्रान्ति संग्राम में भाग लेने के लिए प्रमाण कोई नहीं दिया, परन्तु जीवनी के सम्बन्ध में गवेषणा को अकाट्य कह डाला। गवेषणा कहते हैं 'प्रमाणों को खोजना।' ये प्रमाण ऋषि दयानन्द ने चार कहे हैं- "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द, ऋषि की जीवनी की सत्यता को न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है और न अनुमान से और न उपमान से, ऋषि दयानन्द की सत्यता शब्द प्रमाण अर्थात् इतिहास से ही सिद्ध हो सकती है। सच्चिदानन्द ने सैकड़ों कागज काले किये हैं, किन्तु एक भी प्रमाण ऐसा नहीं दिया जिसको इतिहास की कसौटी पर कसा जा सके। परन्तु फिर भी आनन्द स्वामी इसको अकाट्य गवेषणा कहते हैं।

हठ योग साधना:- रणवीर जी लिखते हैं:-

हठ योग की साधना वह हैदराबाद जाने से पूर्व (१६३८) भी करते थे, नेति, धोती, बस्ती और इस प्रकार की अन्य क्रियाएं उनके लिए बांए हाथ का खेल था। प्राय: वह तीन खेल किया करते थे, एक यह कि वह घुटनों पर हाथ रखकर छाती को आगे झुका कर पेट की बड़ी नाड़ी को पेट के अन्दर इस प्रकार चलाते थे जैसे चक्की चल रही हो। यह चक्की इतनी तेजी से चलती थी कि दर्शक हैरान रह जाता था। दूसरा खेल यह कि मुख बन्द करके हाथों को छाती पर बाँध कर गर्दन हिलाये बिना अपने दोनों कान हिलाना शुरू कर देते थे। तीसरा खेल यह था कि खड़े खड़े या बैठे बैठे अपनी नब्ज रोक देते थे। पहले वह सबको नब्ज दिखलाते पूछते "देखो चलती है या नहीं, हम लोग देखते कि वह ठीक

तरह चल रही है दिल भी ठीक है। तभी वह कहते "देखो अब यह सब कुछ बन्द हो जाएगा" और हम उनकी नब्ज पर हाथ रखकर देखते कि सचमुच बन्द हो चुकी है, दिल की धड़कन भी बन्द है। अजीब बात यह होती कि वह सब कुछ करते समय वह बातें भी करते रहते थे हंसते और मुस्कराते भी रहते थे।" हैदराबाद से आने के बाद एक बार हृषिकेश से ऊपर एक जंगल में उन्हें एक दक्षिणी योगी मिले जिनसे उन्होंने योग की दीक्षा ली उस दीक्षा की पूरी कहानी कभी नहीं बतायी। हाँ कभी बातचीत के दौरान जो कुछ उन्होंने बताया उससे मालूम होता है कि वह सज्जन काफी बुजुर्ग थे।

श्री खुशहाल चन्द जी हृषिकेश से ऊपर एक जंगल में ही उन पूज्य योगीराज से मिले। उनसे प्रार्थना की मुझे योग मार्ग पर चलने और समाधि अवस्था प्राप्त करने का साधन बताइये। योगीराज ने उनकी ओर देखकर कहा, यह बात बहुत कठिन है। श्री खुशहाल चन्द जी ने कहा यह तो मैं जानता हूँ।"

इससे पहले भी वह एक दो बार मिल चुके थे। लेकिन इस बार मिलने के लिए, प्रभु मिलन की राह जानने के लिए गए।

योगीराज ने कहा "अच्छी बात है। मेरे साथ वाली कुटिया खाली है, इसमें रहिये। पहले कुछ दिन आपको पेट की सफाई के औषध देनी होगी ताकि शरीर में कोई गन्दगी न रहे।"

सो तीन दिन बाद दवा उन्हें दी। पेट इस तरह से हो गया जैसे उसमें कुछ रहा नहीं। दवा के साथ-साथ उन्हें पीने के लिये दूध मिलता रहा। खाना नहीं। एक सप्ताह वे केवल दूध पर रहे। दिन भर में केवल एक गिलास दूध पीते थे। योगीराज स्वयं देखते थे कि दूध उत्तम हो।

ठीक तरह से उसे उबाला गया हो। इस तरह दस दिन बीत गये। श्री खुशहाल चन्द जी जब तक जागते, तब तक जाप करते घंटों बैठे

रहते। दस दिन बाद योगीराज बोले, "आज से दूध नहीं पीना। दिन में तीन बार केवल पानी पीना होगा।" श्री खुशहाल चन्द जी ने वैसा ही किया। सात दिन केवल पानी ही पिया। दिन में तीन बार पेट भर कर गंगाजल पीते। सात दिन बीतने के बाद गुरुजी ने कहा, "अब दिन भर में केवल एक बार एक घूँट पानी पीना होगा।" श्री खुशहाल चन्द जी ने वैसा ही किया। सातवें दिन उसकी हालत यह थी कि उठकर खड़े होना मुश्किल हो जाता था। अधिक देर तक बैठन कठिना हो गया। ऐसा जान पड़ता था कि प्राण अब निकलने वाले हैं। किसी समय जीवन पंछी उड़ जाएगा। और काया पिंजरा खाली रह जायेगा।

व्रत शुरु हुए इक्कीस दिन हो चुके थे। इक्कीसवें दिन यह हालत हो गई कि गुरुजी की कुटिया तक नहीं जा सके। वह स्वयं कुटिया में आये और धीरे से बोले, "शरीर बहुत निर्बल हो गया है।"

श्री खुशहाल चन्द जी ने बहुत धीमे से मुस्कराकर कहा, "प्राण तो अभी शेष हैं।" गुरुजी बोले, "ये बने ही रहेंगे आपको अभी बहुत काम करने हैं।" अब मेरे सामने आसन लगा कर बैठिये। मेरी ओर देखिये कि मैं किस प्रकार प्राणों को मूलाधार से उठाकर हृदय, गर्दन, आज्ञा चक्र ओर ब्रह्म रन्ध्र में ले जाता हूं।" श्री खुशहाल चन्द जी ने वैसा ही किया। एक बार तो शरीर के भीतर 'शॅू' करके कुछ हुआ इसके बाद बाहर की ओर शरीर की होश न थी वह था और परमानन्द था जिसे आज तक कोई नहीं बता सका! जब उनकी समाधि खुली जो उनके गुरुजी उनके पास खड़े थे उनके सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेर रहे थे जब उनकी आँख खुली तो गुरुजी ने कहा- "कैसा लगा?" श्री खुशहाल चन्द जी ने धीरे से बतलाया "इस आनन्द का बयान नहीं कर सकता। लेकिन आपने मुझे इतनी जल्दी क्यों जगा दिया?" गुरुजी ने मुस्कराते हुए कहा- "जल्दी नहीं उठाया आपको इस हालत में बैठे हुए २४ घंटे हो चुके हैं आज दूसरा दिन है। अपनी दाहिनी टाँग को देखो इन २४ घंटों में आप

को यह भी पता नहीं चला कि आपकी टाँग में ६ इन्च लम्बा कील ठोक दिया गया था।'' श्री खुशहाल चन्द जी ने अपनी टाँग की ओर देखा सचमुच उसमें कील ठोक दिया था। एक ओर उसका एक सिरा था व दूसरी ओर दूसरा सिरा था योगीराज ने इस कील को अपने हाथ से निकाला तो बहुत लहू बहा। अन्तत: वह बोले- ''यह घाव ठीक हो जायेगा दवा लगा देता हूं, फिर घाव पर दवा लगाकर पट्टी बांधने के बाद बोले- ''आपका शरीर बहुत निर्बल है अभी उठिये मत! मैं आपके लिये दूध लाता हूँ आज से आपका व्रत समाप्त हुआ।'' उसी दिन गुरुजी ने कहा था- ''मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आपने पहले भी योग विद्या को कहीं सीखा है, वर्ना केवल एक बार बताने से कोई प्राण उठाने में सफल नहीं हो सकता! आप अगर इस मार्ग को जानते थे तो छिपाया क्यों।'' श्री खुशहाल चन्द जी ने हाथ जोड़ कर कहा- ''मैंने आपसे कुछ नहीं छुपाया सचमुच मैंने पहले इस विद्या को कभी नहीं सीखा।'' तब योगीराज ने आँखें मूँद लीं समाधिस्थ हो गये काफी देर बाद आँख खोलकर वह बोले पिछले जन्म में आपने इस विद्या को सीखा था आप नर्मदा के किनारे रहते थे नर्मदा की बाढ़ में आपका शरीरान्त हुआ।'' **यह समाधि नहीं कहला सकती। यह उस नकली योगी का पाखण्ड था। योग के सात अंग यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के पश्चात् समाधि का नम्बर आता है।** जब आनन्द स्वामी ने पहले सात अंगों का अभ्यास नहीं किया तो समाधि कैसी? प्रतीत होता है कि आनन्द स्वामी को बेहोश कर दिया था। उसी को समाधि बतला दिया। यह केवल एक उदाहरण है उस श्रद्धा का जो उनके मन में तीर्थों और धर्मस्थानों के लिए है। .... आनन्द स्वामी की जिस श्रद्धा का वर्णन किया गया है वह अन्ध विश्वास है। तीर्थों में स्नान करने से मुक्ति नहीं होती। मुक्ति का साधन तत्त्वज्ञान है। मूर्ख लोग अविद्या के कारण तीर्थों की यात्रा और स्नान से मुक्ति मानते हैं। ऋषि दयानन्द ने ऐसे तीर्थों का खण्डन किया है। श्रद्धा शब्द का अर्थ सत्य में दृढ़ रहना है। गंगोत्री चले

गये, बद्रीनाथ, केदारनाथ, और गोमुख आदि के दर्शन के लिये पहुँच गये जो निश्चित रूप से आर्य समाजियों के तीर्थ नहीं। एक यात्रा के दौरान मानसरोवर पहुँचे, लेकिन आनन्द स्वामी आराम करने या प्राकृतिक छटा निहारने नहीं गये थे वह तो इस भावना से गये थे कि मानसरोवर एक पवित्र तीर्थ है कभी वहाँ योगीराज भगवान शंकर रहते थे उनके चरणों का स्पर्श पा उसका जल पवित्र हुआ।* उस जल में भी वे कपड़े उतारकर घुस गये वह खुले आकाश के नीचे पिघलती हुई बर्फ में नहाये बिना माने नहीं।

मानसरोवर की यात्रा से लौटते हुए पिस्सू घाटी पर बर्फ के फिसलने पर उनकी टाँग की हड्डी टूट गयी थी। दिल्ली पहुँचने पर मैंने दुखी स्वर में कहा, "आप इतनी कठिन यात्रा पर गये क्यों थे?" अगर वे मजदूर वहाँ न पहुंचते, अगर कोई जंगली जानवर आ जाता, तो क्या होता? वह गम्भीरता से बोले- 'जंगली जानवर वहाँ बहुत थे वे मुझे दूर से देखकर चले जाते थे फिर तीर्थ या तीर्थ यात्रा में प्राण चले जाते तो इससे अच्छा क्या है? इससे मुक्ति मिलती है।"*

सिद्ध योगी के दर्शनः-

"कैलाश यात्रा में एक ऐसी घटना भी घटित हुई, जिसकी आम तौर पर चर्चा नहीं करते थे जब वह कैलाश उतर कर मानसरोवर की ओर आ रहे थे तो एक स्थान परखा या बरखा पर उनका डेरा लगा यहाँ उनके साथी भी रुके । स्वामी जी अपने तम्बू में थे, दूसरे लोग दूसरे तम्बू में । दिन के समय सब लोग बैठे थे कि योगियों के विषय में बात छिड़ गई।

स्वामी जी ने कहा- "योगियों के बारे में बातें बहुत सुनी हैं लेकिन हमें तो इस ओर कोई योगी दिखायी दिया नहीं, जान पड़ता है

टिप्पणी-*किसी मनुष्य के पैर के छूने से जल को पवित्र मानना, मूर्खता है।

योगियों की बातें गप ही हैं।''

तभी दूसरी बातें होने लगी योगियों की चर्चा वहीं रह गयी रात के समय पूज्य स्वामी जी महाराज अपने तम्बू में सोये पड़े थे कि आवाज सुनकर जाग पड़े ऐसा जान पड़ा कि कोई नाम लेकर उन्हें पुकार रहा है उस सुनसान बीहड़ में आधी रात के समय कौन बुलाता है? वे ये रहस्य समझ न पाये। पहले विचार आया कि स्वप्न होगा और नाम लेकर पुकारने का भ्रम हुआ है। तभी फिर किसी ने पुकारा, ''आनन्द स्वामी! इधर आओ!'' पूज्य स्वामी जी अपना स्वेटर पहनकर टार्च लेकर तम्बू से बाहर आये। फिर किसी ने पुकारा इधर आओ।''

आवाज की दिशा में आगे बढ़े तो तम्बू से कुछ ही दूर एक दीर्घ काय साधु नंग धड़ंग दिखायी पड़े बड़ी बड़ी जटाएं, श्वेत दाढ़ी, शरीर पर भस्म रमाये .... स्वामी जी ने टार्च के प्रकाश में खड़े उस महात्मा को देखते हुये कहा, ''आप ही क्या किसी को बुला रहे हैं? साध ने कहा, ''हाँ! मैं तुम्हें ही बुला रहा था, तुम जो आज शाम कह रहे थे कि इस ओर किसी सिद्ध योगी को नहीं देखा तो योगी सामने खड़ा है, क्या चाहते हो तुम?'' स्वामी जी आश्चर्य से बोले , ''आप तो उस समय मौजूद नहीं थे?'' महात्मा ने कहा, ''मौजूद होने की आवश्यकता नहीं होती, दूसरे लोग केवल बात के लिये बात कर रहे थे लेकिन तुम्हारे भीतर योगी देखने की सच्ची इच्छा थी इसलिये आ गया हूँ।'' स्वामी जी बोले, ''परन्तु आप योगी हैं? स्वामी जी ने हंसते हुए कहा, ''इसका प्रमाण चाहिये न? तो सुनो! संन्यासी बनने से पहले तुम्हारा नाम खुशहाल चन्द था। तुम एक समाचार पत्र के सम्पादक और मालिक थे तुम्हारे ६ पुत्र व दो पुत्रियां हैं। तुम्हारे शरीर का जन्म पंजाब के एक गांव में हुआ जो अब भारत में नहीं है। अब बताओ तुम क्या चाहते हो? स्वामी जी ने जल्दी से झुक कर उनके चरण छू लिए, महात्मा जी ने उन्हें उठाकर वक्ष से लगा लिया। उसी प्रकार आलिंगन में ही बोले- ''मैं आशीर्वाद देता

हूँ तुम्हारा कल्याण होगा।'' स्वामी जी ने हाथ जोड़ कर कहा, ''मैं आपको अपना गुरु कह सकता हूँ? महात्मा बोले, ''अवश्य कह सकते हो मैंने इसी भावना से आशीर्वाद दिया।'' लेकिन तभी स्वामी जी ने देखा कि वह जंगल में अकेले ही खड़े है, उनके सामने कोई साधु नहीं। चारों ओर सन्नाटा है। अभी-अभी जो व्यक्ति उनके सामने था वह कहाँ गया? हवा में कैसे विलीन हो गया? वह यह समझ न सके इधर उधर देखने पर भी जब उन्हें कोई नहीं मिला तो वे अपने तम्बू में लौट आये और भजन में बैठ गये तभी एक विचार उठा- ''शायद कुछ ....'' शायद कुछ भी नहीं हुआ शायद मैंने स्वप्न देखा है शायद मैं टार्च लेकर तम्बू से बाहर भी नहीं गया जो कुछ देखा स्वप्न संसार में देखा''#

परन्तु प्रातः जो उठकर देखा तो स्वेटर पर भस्म लगी हुई थी वही भस्म जो महात्मा ने लगाई हुई थी तब उन्होंने समझा कि रात में जो कुछ देखा वह स्वप्न नहीं था बल्कि यथार्थ था, उन्होंने मार्ग दर्शक कीच खम्बा से पूछा ''इस जगह कोई लम्बा सा लम्बी-लम्बी जटाओं और श्वेत दाढ़ी वाला नांगा साधु भी रहता है?'' कीच खम्बा ने बताया ''रहता तो है।'' स्वामी जी ने पूछा ''मुझे उसके पास ले चलोगे?'' कीच खम्बा ने भयभीत स्वर में कहा हे भगवान! आप कैसी बात कहते हैं? वह साधु बड़ा क्रोधी है। कभी कोई उसके पास जाता नहीं है। एक बार कुछ लोग गये थे उसने उन्हें पत्थर मारने शुरू कर दिये, बड़ी मुश्किल से वे लोग बचकर भाग आये। क्या आपको जान प्यारी नहीं?'' काफी मिन्नत और खुशामद पर ओर इस वचन के बाद वह माना कि उसे इनाम मिलेगा।

टिप्पणी-# वास्तव में यह सब कुछ भ्रम ही था आनन्द स्वामी की बुद्धि ही इस प्रकार की थी कि वह सत्यासत्य का निर्णय करने में असमर्थ थे। योग की परिभाषा में इस मनोवृत्ति को विपर्ययवृत्ति कहा जाता है। 'विपर्यो मिथ्या ज्ञान मतद्रूप प्रतिष्ठम्' विपर्य मिथ्या ज्ञान को कहते हैं जिसमें कुछ का कुछ दिखाई देता हो। ऐसा व्यक्ति कभी योगी नहीं हो सकता। निश्चयात्मक बुद्धि वाला मनुष्य ही योगी हो सकता है। यह वृत्ति ५ प्रकार की होती है- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष।

स्वामी जी उसके साथ गये। परखा से एक मील परे एक टीले के पास कीच खम्बा कहने लगा, "लीजिये जिस पगडंडी पर आप खड़े हैं उसी पर बढ़ते जाइये यह पगडन्डी टीले के उस पार उस महात्मा की गुफा तक जाती है इससे आगे मैं नहीं जाऊँगा।"*

स्वामी जी अकेले ही पगडन्डी पर आगे बढ़े। टीले के उस पार सचमुच गुफा थी उसके पास खड़े हो गये। भीतर झांकने की कोशिश करने लगे, तभी अन्दर से आवाज आयी, "अन्दर आ जाओ आनन्द स्वामी। स्वामी जी ने अन्दर जाकर देखा वही रात वाले महात्मा गुफा के अन्दर आसन लगाये बैठे थे स्वामी जी ने उन्हें प्रणाम किया। महात्मा फिर बोले "तुम फिर क्यों आ गये? मैं तुम्हें मिलने आया था।" स्वामी जी ने उत्तर दिया "आपने मुझे आशीर्वाद दी, अपना शिष्य बनाया यह भी कहा तुम्हारा कल्याण होगा, लेकिन यह तो बताया नहीं कि किस मार्ग पर चलने से? मैं यही पूछने आया हूँ।"**

महात्मा जी बोले, "बैठ जाओ! जिस मार्ग पर तुम चलते हो वही तुम्हारे लिये कल्याण का मार्ग है इसे बदलने की आवश्यकता नहीं। लेकिन जान पड़ता है कि तुम्हारे मन में योगियों के सम्बन्ध में जो शंका थी वह अब भी दूर नहीं हुई।

स्वामी जी ने हाथ जोड़कर कहा- "योग के चमत्कारों की बातें मैंने सुनी तो हैं लेकिन ऐसा चमत्कार कभी नहीं देखा! मिसाल के तौर पर मैंने सुना है कि योगी लोग हवा में उड़ सकते हैं लेकिन ऐसे किसी योगी

टिप्पणी-* वास्तव में वह कोई सिद्ध योगी नहीं था बल्कि कोई हिंसक तांत्रिक था। आनन्द स्वामी बहुत शीघ्र ऐसे पाखण्डी लोगों के बहकावे में आ जाते थे और उनकी बातों को सत्य मानने लगते थे।

टिप्पणी-** इससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिणी बाबा का मार्ग झूठा था, उससे प्रभु मिलन का मार्ग नहीं मिला। आनन्द स्वामी का तो कोई निश्चत मार्ग था ही नहीं, वे तो डावांडोल ही रहते थे।

को ..... " महात्मा हंस कर बोले, "तुमने नहीं देखा तो इस लिये कि योगी लोग तमाशा नहीं दिखलाते और फिर आकाश में उड़ना या हवा में उड़ना तो मामूली बातें हैं वास्तविक बात तो परमानन्द की प्राप्ति है।"

स्वामी जी ने कहा, 'लेकिन आकाश समाधि की बात सही भी है।'[1]

महात्मा जी फिर हंसते हुए बोले- "यह कहो कि तुम आकाश समाधि देखना चाहते हो वह मैं अभी दिखा दूँगा मेरे गुरु यहाँ से भूतान की ओर रहते हैं। पैदल जाने में बहुत समय लगता है कभी उनके दर्शन करने हों तो आकाश मार्ग से जाता हूँ कभी-कभी वह भी इसी तरह कृपा करने को आते हैं। इस समय वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं, तुम यदि आकाश समाधि के इच्छुक हो तो देखो।" इतना कहकर महात्मा ने आँख बन्द कर ली सिंहासन लगा लिया और लम्बे लम्बे सांस लेकर पहले भस्त्रा प्राणायाम किया फिर वायु भक्षण करने लगे और वायु बाहर निकालने का प्राणायाम। पहले उनकी छाती फूलने लगी तब हाथ व पांव टांगें और बाहु फूलने लगे फिर चेहरा फूलंने लगा जैसे गुब्बारा फूलता है उसके बाद उनके अन्दर हवा भरती चली गयी। थोड़ी देर बाद उनकी शक्ल इतनी भद्दी हो गयी कि वह सब कुछ उनके सामने न होता तो पूज्य खुशहाल चन्द जी उन्हें पहचान भी नहीं पाते। लगभग १५ मिनट तक महात्मा के शरीर का गुब्बारा फूलता रहा तब उन्होंने एक और लम्बी सांस ली और शरीर ऊपर उठने लगा। ऊपर उठते समय भी वे सांस ऊपर खींच रहे थे। देखते ही देखते वे छत से जा लगे। स्वामी जी ने योग के उस चमत्कार को देखा, और चकित रह गये। महात्मा थोड़ी देर के लिए

टिप्पणी-[1] इस से भी यही सिद्ध होता है कि आनन्द स्वामी की रुचि चमत्कार देखने और दिखाने की थी परमानन्द प्राप्ति की ओर उनकी रुचि बिल्कुल नहीं थी और आनन्द स्वामी का दक्षिणी साधु से समाधि के सीखने की बात भी झूठी सिद्ध होती है क्योंकि समाधि के सिद्ध हो जाने के पश्चात् फिर जानने को कुछ नहीं रहता।

ऊपर रहे, फिर नीचे आने लगे। कुछ ही देर बाद वह जमीन से आ लगे। रेचक प्राणायाम से सारी हवा बाहर निकाल दी। उनका शरीर वैसा ही हो गया जैसा पहले था। तब उन्होंने आँखें खोलकर कहा, ''यह है, आकाश समाधि।'' स्वामी जी ने हाथ जोड़कर कहा- ''मैं इसे क्या सीख सकता हूँ?'' ''सीख क्यों नहीं सकते?'' लेकिन इसे सीखने व अभ्यास करने में समय बहुत लगता है। मैंने यह साधन उस समय सीखना शुरू किया, जब तुम पैदा भी नहीं हुए थे। लगभग ७० वर्ष मुझे सीखने में लगे, तुम भी ऐसा कर सकते हो, लेकिन तुम्हारे लिये बहुत काम की बात नहीं केवल तमाशा दिखाने के लिये इसे निरर्थक जानो।''[1]

''संन्यास लेने से पहले अमली तौर पर वह साधु थे। लेकिन जिस प्रभु दर्शन का स्वप्न वह शैशव से देखते थे, वह तो उन्हें मिला नहीं। ईश्वर को समझ लेना, और उसको प्यार करना उस पर भरोसा रखना और उनके नाम का प्रचार अलग बात है, लेकिन साक्षात् दर्शन करना अलग बात है। यह दूसरी बात अभी नहीं हुई थी ।[2] इस लिये संन्यास लेने के बाद गंगोत्री पहुंचे। उन्हें कुछ लोगों ने बताया गंगोत्री में योगीराज व्यासदेव जी महाराज रहते हैं, उन्हीं का दर्शन करने वहाँ गये .... पूज्य स्वामी जी ने कहा- ''मैंने प्रभु का नाम सुना है, उसकी महिमा को जाना, अब उन्हें देखना चाहता हूँ।'' ब्रह्मचारी जी महाराज मुस्कराते हुये बोले, ''यह तो मैं दिखा दूँगा। आज रात ही आप अपने प्रभु को साक्षात् देखोगे।'' इसके बाद क्या हुआ? यह मुझे ज्ञात नहीं .... स्वामी जी ने मुझे बताया ''मैंने साक्षात् उसके दर्शन किये। जिसके दर्शन की प्यास जन्म जन्मान्तर से मेरे

टिप्पणी-[1] यहाँ भी आनन्द स्वामी का आग्रह यही है कि मैं इस तमाशे को सीख जाऊँ।

टिप्पणी-[2] संन्यासी होने से पहले यदि दक्षिणी साधु से समाधि लगाना सीख लिया था और 24 घन्टे की समाधि लगाई उस अवस्था में उनकी जांघ में 6 इन्च की कील भी ठोक दी गई तो भी आनन्द स्वामी को पता नहीं चला था। उस अवस्था में तो ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तो फिर दूसरी बार साक्षात् करने की क्या आवश्यकता थी।? या पहली बात झूठी थी?

आत्मा में थी। इसके बाद ही उन्होंने वह पुस्तक लिखी जिसका नाम 'प्रभु दर्शन'[1]

"स्वामी जी ने अपनी झोली फैला दी, आंखे मूंद लीं। प्यार भरी दर्द भरी आवाज में कहा, "मैं तुम्हारे दु:ख मांगता हूँ, तुम्हारी मुसीबतें, तुम्हारी चिन्तायें, देखो मैंने झोली फैला दी है। डाल दो! सब लोग अपने दु:खों को अपने क्लेशों को अपनी चिन्ताओं को इसमें डाल दो, दे दो मेरी बच्चियो अपने दु:ख, अपने क्लेश, अपनी चिन्तायें सब मुझे दे दो। ईश्वर करे आपके सभी दु:ख मुझे मिल जायें।"[2] खुशहाल चन्द की प्रार्थना से उनके पुत्र ओम प्रकाश की आंखें ठीक हो गयीं। यद्यपि आंखों के ठीक होने की आशा नहीं थी। (पृ0 १२०)

पुत्र का मोह:-

"एक बार वह अज्ञात वास से वापिस आये, तो आते ही मुझे सीने से लगा लिया। मेरी आंखों और माथे को चूमते हुए बोले- "मैंने सबका मोह छोड़ दिया। तेरा मोह मुझसे नहीं छूटता। अपने भगवान् के पास पहुँच कर भी मैं सबसे पहले तेरे लिये प्रार्थना करता हूँ।" २६ अक्टूबर के मिलाप के सम्पादकीय में रणवीर जी ने लिखा "कुछ बरस पहले वे वैसे ही मेरे पास आ गये कहने लगे- "तुझे एक बात कहने आया हूँ। तू पिछले कई जन्मों से मेरा बेटा होता आया है। आज तुझे

टिप्पणी-[1] यह साक्षात्कार भी एक भ्रम ही था। एक रात में ही दर्शन होना तो बाजीगर का खेल है। व्यास देव जी अभी तक जीवित हैं। वे स्वयं अभी तक ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में डावांडोल हैं उनका कहना है कि ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता नहीं। वे अपनी पहली पुस्तकों को भी नहीं मानते।

टिप्पणी-[2] यह भी एक पाखण्ड है कि ऐसे हाव भाव दिखाना जिसमें झूठ बात भी सच्ची प्रतीत हो, पाखण्ड है। आनन्द स्वामी ने झोली फैलाकर वह चीज मांगी जो झोली में नहीं डाली जा सकती और न दी जा सकती है। यह भी बहुरूपियापन है जिसमें वे खूब अभ्यस्त थे।

कहने आया हूँ कि अगले जन्म में भी तू मेरा बेटा होगा। मेरा तेरा साथ जन्म जन्म का साथ है।''@

''समाज का कानून है कि बेटा बाप का हुक्म मानता है। मेरा पिताजी का रिश्ता इससे कुलैतन मुखतलिफ था वे हर किसी को कहते थे, ''रणवीर जो कहेगा वही मैं करूँगा। मैंने अपने आप को उसके हवाले कर दिया है।'' और वाकई जो कुछ मैं कहता था वह करते थे। - कई वर्ष पहले उन्होंने मुझसे कहा ''रणवीर अब मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूं। तू इजाजत दे तो मैं इस शरीर को छोड़ दूँ मैंने सख्ती से कहा अभी ''यह इजाजत नहीं मिलेगी, आप चले जायेंगे तो मैं पिता किसे कहूंगा।'' और फिर आप चले गये तो यह कच्ची दोस्ती होगी पक्की नहीं।'' वे हंस कर बोले - ''अच्छा बाबा'' जब तू खुद न कहे तब तक मैं जाऊँगा नहीं तेरी मेरी दोस्ती पक्की है। यह कभी कच्ची नहीं होगी।'' लेकिन दो महीने पीछे मैंने उनकी तरफ देखा, उनकी दोनों टांगें बेकार हो गई थी, वे सहारे के बगैर खड़े भी नहीं हो सकते थे, तो मुझे अपने आप पर गुस्सा आया मन में कहा बदनसीब! जो अपने स्वार्थ के लिए इतने बड़े महात्मा को इतना कष्ट दे रहा है, यह पाप न कर। स्वार्थ को छोड़ दे। मैंने उनके चरणों को चूमा और कहा, ''आज मैं आपको इस पाबन्दी से आजाद करता हूँ जो मैंने अपनी गरज के लिये आयद कर दी थी। अब आप जब भी चाहें इस शरीर को छोड़ दीजिये। मेरे लिए बहुत कष्ट उठाया आपने, अब और कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं। और उन्होंने मुझे हंस कर

टिप्पणी-@ ये सब बातें आनन्द स्वामी की झूठी हैं महाभारत में लिखा है-

''माता पितृ सहस्त्राणि पुत्र दार शतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्यते कस्य वा वयम् ।।

अर्थात् जन्म जन्मान्तरों में हमने सहस्रों माता पिता और सैकड़ों स्त्री और पुत्रों को देखा है कोई किसी का निश्चित साथी नहीं मनुष्य कर्म फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं। कर्म फल ईश्वराधीन है।

सीने से लगा लिया बोले, "देख तेरी मेरी दोस्ती है तुमसे अपने दोस्त की तकलीफ देखी नहीं गयी।

तुमने मुझे आजाद कर दिया, लेकिन मैं इस शरीर को छोड़ देने के पश्चात् भी तेरे साथ रहूंगा, हमारी दोस्ती कच्ची नहीं होगी। टूटेगी नहीं [$] लेकिन तू भगवान शिव को मानता है न? उनसे कह वह भी मुझे इस शरीर से आजाद कर दे।"[+] और एक बात मैंने उनके बेजान जिस्म पर देखी उनके माथे पर न जाने कैसे त्रिशूल का निशान बन गया था, जैसे भगवान शिव मेरे पूज्य गुरु महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती खुद उनकी आत्मा को प्रेरणा दे रहे थे जो आज्ञा चक्र से ब्रह्म रन्ध्र की तरफ जा रही थी वहाँ पहुंच कर शिव शंकर में समा गयी।"[卐]

"रणवीर की दांई बगल में फोड़ा होने से दांये हाथ से कार्य होना असम्भव हो गया तो रणवीर रो पड़ा, रणवीर अपने कार्यालय लाहौर में रोया और खुशहाल चन्द जी कहीं दूर देशमें अज्ञात वास में भजन कर रहे थे, वहाँ उसने रणवीर के रोने की आवाज सुनी और झट वहाँ से आ गये और रणवीर के सामने खड़े हो गये। वह स्थान लाहौर से सैकड़ों मील दूर था।" जलालपुर में खुशहाल चन्द जी के पिता की रुग्णता की सूचना खुशहाल चन्द जी को लाहौर में सन्ध्या करते मिल गयी। सन्ध्या से उठकर उन्होंने रणवीर से कहा- "मैं अभी जलालपुर जाता हूं, पिताजी बीमार हैं। उन्होंने मुझे बुलाया है।" इसके एक घन्टे बाद तार आया, "मैं

टिप्पणी- [$] जो मनुष्य पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से चिपटा हुआ है वह न तो सन्यासी हो सकता है और न ईश्वर को पा सकता है।

टिप्पणी- [+] इस शरीर से छूटने के लिये ईश्वर पर विश्वास नहीं, उसकी मर्जी में अपनी मर्जी नहीं इसके लिये भी रणवीर की शिफारिश की आवश्यकता थी। किसी मनुष्य की शिफारिश से ईश्वर किसी को आजाद नहीं कर सकता। यह ईसाइयों और मुसलमानों का सिद्धांत है वैदिक लोगों का नहीं।

टिप्पणी- [卐] रणवीर और आनन्द स्वामी त्रिशूल धारी साकार शिव के मानने वाले थे। निराकार सर्व व्यापक ईश्वर के नहीं।

बीमार हूँ, तार देखते ही चले आओ।''[1]

''सन् १९५३ को रणवीर अमरीका सरकार के निमन्त्रण पर वहाँ गये। ... स्वामी जी ने कहा, ''मैं तुम्हारा ध्यान रखूंगा। तेरे साथ रहूंगा।'' सान फ्रान्सिको पहुँचा तो ... श्री आनन्द स्वामी जी महाराज का एक पत्र मिला ... उसमें लिखा था- 'प्यारे वीरम्! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी यात्रा बहुत सुख से बहुत सरलता से हो रही है। आज सवेरे मैं ध्यान में बैठा था, तुम्हें तलाश किया तो देखा कि तुम एक परम सुन्दर गाड़ी में बहुत मनोरम कमरे में बैठे थे। ऐसी सुन्दर गाड़ी मैंने तो पहले कभी नहीं देखी थी। वह सागर के साथ जा रही थी। लहरें उसके साथ नाच रही थीं। गाड़ी में गया उस कमरे में पहुँचा, जिसमें तुम बैठे थे। मैं तुम्हारे पास जाकर खड़ा हो गया। ... मैं यह देख कर लौट आया कि तुम बिल्कुल ठीक हो।'' तुम्हारा शुभ चिन्तक आनन्द स्वामी।''

अमरीका की इस यात्रा में दूसरी घटना:-

साउथ डकोटा के रैपिड सिटी को जाते हुए वायुयान बर्फ के तूफान में एक जगह उतरा। वहाँ वायुयान से उतरकर अन्धेरी रात में रणवीर जी एक बर्फ के नाले की ओर जा रहे थे, तो हवाई अड्डे से लगभग एक फर्लांग दूर होंगे कि- तभी ऐसा जान पड़ा कि जैसे पीछे से किसी ने पुकारा हो, ''रणवीर रुक जाओ फिर आगे बढ़ा था कि एक ही पग चलने पर फिर से पुकार सुनाई दी, वापिस आओ। रणवीर आगे मत बढ़ो'' अब के आवाज अधिक ऊँची थी। उसमें क्रोध का भी कुछ अंश था। मैंने फिर पीछे देखा। अब भी कोई नहीं था। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरे कान बजते हैं। क्योंकि उस क्षेत्र में सिवाय मेरे और कोई

---

1 महात्मा आनन्द स्वामी जी का मुझसे भी बहुत स्नेह था। उनके निधन से पूर्व मैं उनके छोटे पुत्र श्री यश के घर उनका पता करने गया था। मैंने तो उनके माथे पर कोई त्रिशूल नहीं देखा था। रणवीर ने स्वयं मुझे कहा था कि उन्हें हरिद्वार में किसी वैद्य को दिखाना है। शरीर छोड़ दो की अनुमति की कहानी शुद्ध गप है। - जिज्ञासु

हिन्दी बोलने वाला नहीं था। .... बात भूली सी हो गयी, लेकिन सातवें दिन रेपिड़ सिटी में पूज्य श्री आनन्द स्वामी का पत्र मिला, "तुम परदेश में हो। हर जगह तुम्हें देख भाल कर और जो जानते हैं, उनसे पूछ कर जाना चाहिये लेकिन तुम ऐसा करते नहीं, व्यर्थ ही अपने को संकट में डालते हो। फिर आवाज देने पर सुनते नहीं हो। आगे से ऐसा मत करना आज तुम्हें बचाने के लिये मुझे बहुत मेहनत करनी पड़ी।" और पत्र पर उसी दिन की तारीख थी जिसकी रात को बारह बजे के लगभग उक्त घटना होते-होते बची।"...

उल्लेख इस दृष्टि से किया कि उस अनोखी शक्ति का थोड़ा वर्णन कर सकूं, जो ईश्वर विश्वास ईश्वर भक्ति एवं योग साधन ने उनके अन्दर पैदा की। इस शक्ति के बारे में भ्रम सन्देह की कोई बात कम से कम हमारे परिवार में नहीं रही। जब भी किसी को कोई कष्ट हो तो वह पूज्य स्वामी जी महाराज से कह देता है, अगर स्वामी जी कह देते हैं कि इतनी अवधि में दूर होगा तो उतनी ही अवधि में दूर होता है। अगर वह जबाब न दें तो इसका सीधा सा यह अर्थ होता है कि कष्ट के जल्दी दूर होने की कोई आशा नहीं,"*

कैसे कैसे चमत्कार! बादलों को रोक दिया:-

मेरी बेटी की शादी थी। तारीख निश्चित हो गयी सब लोगों को सूचित कर दिया गया लेकिन मौसम खराब था, धुआंधार बारिश हो रही थी, मैंने पूज्य पिताजी के पास जाकर कहा, "आप इन बादलों को रोक नहीं सकते हैं?" वह हंसते हुए बोले, "क्यों?" मैंने उन्हें कारण बताते हुए कहा, 'ऐसा कर दीजिये कि विवाह के सात दिन पहले और दो दिन

टिप्पणी-* रणवीर सिंह जी के लेखों से पता चलता है कि जब वह भजन में बैठते थे तो उसी समय उनको अपने परिवार के लोगों की बातें याद आती थीं और चमत्कार की बातें भी तभी सूझती थीं। इससे स्पष्ट है कि उनका ईश्वर में नहीं परिवार में ही ध्यान होता था। इसको भक्ति नहीं कहते यह बगुला भक्ति कहलाती है।

बाद वर्षा न हो। वह फिर बोले अच्छा जाओ नहीं होगी''[卐]

और सचमुच ही उन दिनों में वर्षा नहीं हुई दसवें दिन ऐसी घनघोर बारिश हुई कि जल थल एक हो गया।''[1]

मैंने अपने इस लेख में रणवीर जी द्वारा लिखी हुई जीवनी में से आनन्द स्वामी की योग साधनाओं, सिद्धियों, चमत्कारों, गुरुओं, तीर्थ यात्राओं और भविष्य वाणियों के लम्बे-लम्बे सन्दर्भों को इस लिये उद्‌धृत किया है ताकि आर्य समाज के बुद्धिमान् और जागरूक लोग यह देख सकें कि आनन्द स्वामी की महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों और आदर्शों में कितनी श्रद्धा और आस्था थी?[ॐ]

आनन्द स्वामी की योग साधनाओं का आधार हठ योग पद्धति थी। जिसमें नेति, धौति और वस्ति आदि की क्रियाओं का खूब प्रदर्शन करते थे। देखने वाले चकित रह जाते थे। किन्तु ये सब बाजीगर के खेल तमाशों के समान ही थे।[$]

महर्षि दयानन्द जी भी हठयोग की क्रियाओं के अत्यन्त विरुद्ध

टिप्पणी-[卐] आनन्द स्वामी अपने पुत्र पर प्रभाव डालना चाहता होगा कि ईश्वर उसके हाथ की कठपुतली हैं।

टिप्पणी-[1] किसी मनुष्य के कहने मात्र से वृष्टि नहीं हो सकती उसके लिये ऐसे भौतिक उपाय किये जाते हैं जिनसे बादलों पर प्रभाव पड़ता है इस उपाय को यज्ञ के नाम से कहा जाता है। इसको चमत्कार बतलाना कोरा झूठ है। रणवीर सिंह अपने पिता को ईसा, मूसा और मोहम्मद के समान चमत्कार करने वाला दिखाना चाहते हैं।

टिप्पणी-[ॐ] यह भी देखना है कि आनन्द स्वामी की योग सम्बन्धी सिद्धियों का वर्णन उसका पुत्र ही करता है रणवीर कोई ऐसा प्रामाणिक व्यक्ति नहीं कि जिसकी बातों को सर्वथा सत्य मान लिया जाये। पुत्र अपने पिता की प्रशंसा में प्राय: अत्युक्ति से काम लेते हैं इस सम्बन्ध में किसी निष्पक्ष व्यक्ति की साक्षी होनी चाहिये।

टिप्पणी-[$] इन बातों का योग से कोई सम्बन्ध नहीं, कई लम्पट लोगों को भी इस प्रकार की क्रियाओं को करते देखा है। हमने अपने गांव के एक जुम्मा चूहडे को भी ऐसे करते देखा था।

थे। महर्षि दयानन्द ने अपनी स्वलिखित जीवनी में हठयोग प्रदीपिका के सर्वथा झूठी होने के सम्बन्ध में एक घटना लिखी है उन्होंने लिखा है:- ''गढ़मुक्तेश्वर को पार करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मैं गंगा के तट पर पुन: आ गया हूं। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास 'शिव सन्ध्या' 'हठयोग प्रदीपिका' योगबीज, और घेरण्ड संहिता थी, जिन्हें मैं अपनी यात्रा में पढ़ा करता था। इनमें से कुछ पुस्तकों में नाड़ी चालन एवं नाड़ी चक्रों का विस्तृत वर्णन था जिसे मैं ग्रहण न कर पाया, जिससे अन्त में मुझे उस विवरण की सत्यता में सन्देह हो गया। कुछ समय तक अपने संशयों को निवृत्त करने का यत्न करता रहा, परन्तु मुझे अवसर हाथ न लगा। एक दिन मैंने दैवयोग से देखा कि एक शव गंगा के प्रवाह में बहा जा रहा है। उसे देखकर मैंने सोचा कि यह नाड़ी विषयक सन्देह दूर करने का अच्छा अवसर है। अपने साथ की पुस्तकों को मैंने एक ओर रखा और अपने वस्त्र जो मैं पहने हुए था उतार कर मैं नदी में उतर पड़ा। और शव को खींच कर तट पर ले आया। मैंने एक लम्बी छुरी ली और जिन ग्रन्थों में नाड़ी चक्र का वर्णन था उन्हें खोल कर सामने रखा और खूब सावधानी के साथ शव की चीर फाड़ आरम्भ की। पहले मैंने हृत् पिण्ड निकाल कर परीक्षा की, उस के पीछे नाभि देश पञ्जर पर्यन्त मैंने शव को काट डाला। मस्तक और गले के किसी किसी भाग को चीर कर देखा और साथ साथ उनको ग्रन्थों के वर्णनों से मिलाकर देखने का यत्न करता रहा। परन्तु जब मैंने देखा कि कुछ भी नहीं मिलता, चीरे हुए शव देह के किसी अंश वा अंग में भी ग्रन्थों में वर्णन किये हुए नाड़ी चक्र का कोई भी चिन्ह न पाया तब मैंने उसी चीरे हुए शव देह के साथ साथ ही उन ग्रन्थों को भी टुकड़े टुकड़े करके नदी के प्रवाह में फेंक दिया। उस समय से मैं धीरे धीरे इस परिणाम पर पहुंचा कि वेदों, उपनिषदों पातन्जल योग सूत्रों और सांख्य सूत्रों को छोड़कर योग विज्ञान पर लिखा हुआ सारा कार्य मिथ्या है।'' (द.जी. चरित्र देवेन्द्र द्वारा)

यही नहीं बल्कि अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में भी ऋषि दयानन्द ने

आर्य पुरुषों को योग के सम्बन्ध में हठयोग प्रदीपिका को पढ़ना और पढ़ाना सर्वथा वर्जित किया है। सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में पठन पाठन के प्रसंग में महर्षि वेद व्यास के योग भाष्य को विहित बतलाया है और हठयोग प्रदीपिका को निषिद्ध घोषित किया है। इसी प्रकार ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ग्रन्थ प्रामाणाप्रामाण्य विषय में भी पातञ्जल योग सूत्रों के भाष्यों में से महर्षि व्यास देव के भाष्य को ही प्रमाण कोटि में रखा है हठयोग प्रदीपिका को प्रमाण विरुद्ध माना है। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द जी महाराज ने १४ जुलाई सन् १८७५ में पूना नगर में योग के सम्बन्ध में एक व्याख्यान दिया था उसमें उन्होंने आजकल के चौरासी योग आसनों को भानमति का तमाशा बतलाया था और आजकल के प्राणायामों को भी तमाशा कहा था उसी प्रसंग में उन्होंने कहा:-

"अब हठयोग का विधान वर्णन किया जाता है। हठ योग में वस्ति उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते पानी चढ़ाकर सफाई करना। टकटकी लगाकर इस तरह से देखने को कि जिसमें पलक न झपके त्राटक कहते हैं। नासिका में सूत्र डालकर मुख से लिकालने को नेति कहते हैं मलमल का चार अंगुल चौड़ा और १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डालकर फिर बाहर निकालने को धौति कहते हैं। यह बाजीगर का खेल है। इससे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे। यह हठ वाले ही जानें कि इन कामों में बीमारियां पैदा होती हैं।" (उपदेश मंजरी)

मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा और सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है। चारों वेदों का मुख्य विषय ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना ही है।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त सब ऋषियों और महार्षियों ने वेदों की मर्यादा के अनुसार ईश्वर प्राप्ति को ही सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि माना है। इस उपलब्धि को ही मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अत्यन्त दुःख निवृति,

कैवल्य प्राप्ति या स्वरूप प्रतिष्ठा का नाम दिया है। इस उपलब्धि का एक मात्र साधन 'योग साधना' ही है।

दयालु दयानन्द ने संसार के भटकते हुए लोगों को ईश्वर की ओर फेरने के लिये उसी वेदोक्त मार्ग को ढूंढ निकाला था जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनी ऋषि पर्यन्त महापुरुषों ने स्थापित किया था। ऋषि दयानन्द ने बड़े तप और योग साधना से योग की सर्वोत्कृष्ट पद्धति पातञ्जल योग सूत्र और उसके व्यास मुनिकृत भाष्य को माना है। और उन्होंने स्वयं उसी पद्धति को आधार मानकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना योग के प्रकरण में आर्य भाषा (हिन्दी) में और संस्कृत में अनुवाद किया है। ऋषि ने पातञ्जल योग सूत्रों में से योग समाधि की पूर्णतया, ईश्वर साक्षात्कार और मोक्ष प्राप्ति के लिए 63 सूत्रों को चुन लिया था। उनकी व्याख्या इतनी सरल और सुबोध है कि योग साधना के जिज्ञासु को कहीं भटकना नहीं पड़ता। मोक्ष मार्ग की यह पद्धति अपने रूप में सर्वथा पूर्ण है। परन्तु आनन्द स्वामी ने इस पद्धति को छोड़कर उस पद्धति को अपनाया जिसका ऋषि दयानन्द ने प्रबल विरोध किया और बतलाया कि मेरे परीक्षण से हठयोग मार्ग सर्वथा झूठा है उसको नहीं अपनाना चाहिये।

योग मार्ग के लिये पतञ्जलि मुनि के सूत्रों पर व्यास मुनि का भाष्य ही ठीक है। आनन्द स्वामी के विरुद्ध व्यवहार से सिद्ध हो गया कि वह ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी नहीं थे। वह ऊपर से ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करते थे, परन्तु क्रियात्मक रूप से ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के सिद्धान्तों और मान्यताओं का अधिकतर विरोध ही करते थे। इसलिए उनके लिखे हुए साहित्य में आर्य समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध बहुत सी बातें लिखी हैं जिससे आर्य लोग भ्रान्ति में पड़ जाते हैं और बहुत से अधकचरे लोग आनन्द स्वामी की चमत्कारी और रोचक कहानियों को सुनकर या पढ़कर आनन्द स्वामी के अनुयायी बन जाते हैं और ऋषि दयानन्द के साहित्य को पढ़ना छोड़ देते हैं। आनन्द स्वामी के

पुत्र रणवीर सिंह द्वारा लिखी गई उनकी जीवनी से यह स्पष्ट हो चुका है कि उनका अपना कोई सिद्धान्त नहीं था। उनकी अवस्था 'गंगा गये गंगा दास, जमना गये जमना दास' वाली थी। उनकी वाणी में स्थिरता नहीं थी। इसलिये उनके उपदेशों, परस्पर के व्यवहारों और लेखों में परस्पर विरोधों की भरमार थी। वाणी में अस्थिरता या सिद्धान्तों में ढीलापन ही मनुष्य को झूठा सिद्ध करती है। ऐसे मनुष्य की साक्षी भी झूठी ठहरती है। मैंने अपनी भूमिका में किसी को व्यर्थ ही झूठा बतलाने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उनके पुत्र के लेखों को पढ़कर ही ऐसा निश्चय हुआ। उनके इस प्रकार के आचरण और व्यवहार से आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को भारी धक्का लगने की सम्भावना है इसलिये एक संन्यासी होने के नाते मेरा यह परम कर्त्तव्य था कि मैं निष्पक्ष होकर आर्य समाज के सिद्धान्तों की रक्षा करने में योगदान दूं और अपने परम उपकारी गुरु महर्षि दयानन्द के विरुद्ध फैलाये गये इस जालसाजी के जाल को तार-तार कर दूं। और ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायियों को अपने गुरु की शिक्षा को विश्व भर में फैलाने की प्रेरणा भी करूं। ऋषि दयानन्द का कहना था:-

नहि सत्यात्परोधर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यमाचरेत् ॥

सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है और झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं, सत्य से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं। इस लिये सत्य का ही आचरण करें। इति।

ओ३म्

'योगी का आत्मचरित' नाम की पुस्तक पातञ्जल योग साधना संघ रोहतक द्वारा प्रकाशित हुई है, मैंने उसको आद्योतान्त बड़े ध्यान पूर्वक और ऊहापोह के साथ कई बार पढ़ा है उसको पढ़कर मेरी निष्पक्ष सम्मति यह है कि यह पुस्तक आदि से लेकर अन्त तक झूठी कल्पनाओं से भरी हुई है। इसमें एक अंश भी महर्षिदयानन्द जी का कहा हुआ नहीं है। इस पुस्तक का अभिनंदन करने वालों ने भी सत्य की कसौटी पर कसे बिना इसकी प्रशंसा कर दी है। मैं बड़े साहस पूर्वक इसको मनगढ़न्त कहानी क्यों लिख रहा हूं? इसका कारण यह है कि मेरे सामने एक ऐसी सर्वमान्य कसौटी है, कि जिसको सारा आर्य जगत् सर्वथा शुद्ध और निर्दोष कसौटी मानता है। वह कसौटी महर्षिदयानन्द जी की अपने हाथ से लिखी हुई और वाणी से कही हुई आत्मकथा है जो उन्होंने १८७५ में पूना नगर में सार्वजनिक सभा में सुनाई और सन् १८८० ई0 के थियोसोफिस्ट पत्र को अपने हाथ से लिखकर और अंग्रेजी में अनुवाद करवाकर भेजी। स्वामी जी ने स्वयं थियोसोफिस्ट के उस लेख को पढ़वाकर सुना और उसकी पुष्टि की। यह स्वामी जी का अपने जीवन के सम्बन्ध में सब से अन्तिम लेख है, अतः यह सबसे अधिक प्रामाणिक भी है, योगी का आत्मचरित्र के सम्पादक ने स्वयं अपनी पुस्तक के २८३–३३१ पृष्ठों में उसको प्रकाशित किया है, और उसको सर्वथा प्रमाण माना है, इसलिए हम इस सर्वसम्मत कसौटी पर कस कर उपर्युक्त पुस्तक की सत्यता या असत्यता की परीक्षा करते हैं, हम स्वामी जी की उत्तराखण्ड की यात्रा को उदाहरण के रूप में रखते हैं। पहले थियोसोफिस्ट में लिखित यात्रा क्रम को लिखेंगे, फिर 'योगी का आत्मचरित्र' के यात्रा क्रम को लिखेंगे:-

ऋषि का यात्रा क्रमः

थियोसोफिस्ट का यात्रा क्रम इस प्रकार है:- (पृष्ठ २६५ से ३०४ योगी का आत्मचरित्र)

हरिद्वार के कुम्भ के मेले की समाप्ति पर (अप्रैल १८५५): ऋषिकेश, ऋषिकेश से टिहरी, टिहरी से श्रीनगर, केदारनाथ, रुद्रप्रयाग, अगस्तमुनि, शिव पुरी पहाड़ की चोटी, फिर केदार, गुप्तकाशी, वहां से तुंगनाथ के शिखर पर, वहां से ओखीमठ, वहां से गुप्तकाशी लौटा, फिर ओखीमठ वहाँ से अगले दिन जोशीमठ, वहां से चलकर बद्रीनारायण पहुंच गया, वहां से अलकनन्दा का उद्‌गमस्रोत, वहां से लौटते हुए वसुधारा तीर्थ और मानग्राम के पास से उसी दिन रात्रि को बद्रीनारायण पहुंच गया, (यहाँ पर उत्तराखण्ड की यात्रा समाप्त हो गई) वहाँ से अगले प्रातःकाल ही रामपुर की यात्रा प्रारम्भ कर दी। पहाड़ों, जंगलों को पार करता हुआ चिलकिया घाटी से उतर कर रामपुर पहुँच गया, वहाँ से काशीपुर और द्रोण सागर पहुंच गया और मैंने सारा शीतकाल व्यतीत किया।" (इससे प्रतीत होता है कि स्वामी जी ने कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष और माघ सम्वत् १९१३ द्रोण सागर में बिताया, क्योंकि सम्वत् १९१२ का शीतकाल शिवपुरी नामक पर्वत पर बिताया था, इस हिसाब से कुम्भ के मेले को समाप्त करके बैसाख सं0 १९१२ से लेकर आश्विन सं0 १९१३ तक उत्तराखण्ड के बद्रीनारायण तक बिता दिये और तत्पश्चात् चिलकिया घाटी से उतर कर समतल भूमि में रामपुर पहुंच गये, इन 18 महीनों में महर्षि दयानन्द जी उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध स्थानों और उनके आस पास के पर्वतीय क्षेत्रों के अन्दर ही योगियों का अनुसंधान करते रहे और साथ ही कभी-कभी कई-कई महीनों तक एक ही स्थान में योग साधना करते रहे। ये सब स्थान उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत ही हैं। इन यात्रा स्थानों में से एक भी ऐसा नहीं जो उत्तर प्रदेश से बाहर का हो, और न कोई स्थान ऐसा है जो एक दूसरे से इतनी दूरी पर हो जिसके लिए कई कई दिनों की यात्रा करनी पड़े)

पर्वतीय क्षेत्र से उतर कर स्वामी जी फिर उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्र में रामपुर आये, वहाँ से काशीपुर और द्रोण सागर आये वहाँ से मुरादाबाद होते हुए सम्भल, वहाँ से गढमुक्तेश्वर, गंगा के तट पर, फर्रुखाबाद, कानपुर, सोनजीरम, इलाहाबाद, कानपुर और इलाहाबाद के मध्य कई स्थान, मिर्जापुर, बनारस और वहां से चडालगढ़ में आश्विन सम्वत् १६१४ में पहुंचे। इस यात्रा में स्वामी जी कार्तिक सम्वत् १६१३ से आश्विन सम्वत् १६१४ तक लगभग एक वर्ष तक उत्तर प्रदेश के १८ स्थानों में भ्रमण करते रहे और अपनी योग साधना में भी पूरी निष्ठा से लगे रहे, इस यात्रा क्रम से भी यही पता चलता है कि स्वामी जी इस एक वर्ष में उत्तर प्रदेश से बाहर कहीं एक मिनट के लिए भी नहीं गये। अब **'योगी का आत्मचरित्र'** का यात्रा क्रम भी देखिये- (योगी का आत्मचरित्र - पृष्ठ अध्याय हिमालय पर्यटन पृ0 २०६ से २३८)।

इसका सार सच्चिदानन्द योगी इस प्रकार देते हैं - (पूर्वार्द्ध पृ0 १३४–१३५)

इस आत्मचरित्र का यात्रा क्रम इस प्रकार है- ऋषिकेश से श्रीनगर (कश्मीर) तीन सप्ताह में, श्रीनगर से अमरनाथ, अमरनाथ से श्रीनगर, श्रीनगर से क्षीरभवानी, क्षीरभवानी से श्रीनगर, श्रीनगर से गान्धारबल, गान्धारबल से तुलमुल, क्षीरभवानी (१५ दिन), सिन्धु नद के किनारे-२ ओइल्ला आदि से कंगन से माटायन, माटायन से कार्गिल, कार्गिल से मुलवेचुम्बा, बौद्धखर्बू, नूरूल, लिकिर, गुम्फा-बासगो, नीमू, ले, हिमिस मठ, पितुक, कार्गिल, शालीमार, शालीमार बाग, श्रीनगर धनषतीर्थ, अगस्त्य आश्रम उषोमठ, रामपुर।

रामपुर से रुद्रप्रयाग, ऋषिकेश, ऋषिकेश से मानसरोवर-ऋषिकेश से देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, गोमुखी, त्रियुगीनारायण, अगस्त्यमुनी, गुप्तकाशी, केदारनाथ, जोशीमठ, केदारनाथ, ब्रह्मकुण्ड, वसुधारा, सत्पथ, भागीरथी, अलकनन्दा, स्वर्गारोहण शिविर अलकापुरी,

मानसोद्भेद तीर्थ, मानसरोवर, कैलाश, राक्षसताल, लासा, लासा से दार्जिलिंग, किचुनदी लेता स्थान में ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तरी तट में, च्याकसामपुल, कायरा घाटी, कामपापरीत्स, न्याकात्स, उपात्माव, गियाँत्सि फारिचुम्बी, इडक (भारतीय सीमा में), इडक से दार्जिलिंग, कलकत्ता-नाटो, शिलीगुड़ी, बारिकपुर कलकत्ता, गंगा सागर, नवरूप, कामरूप, कामाख्या परशुराम, समस्तीपुर, दरभंगा, बेतिया, नेपाल, कलकत्ता, पुरी, नासिक, श्रृंगेरी, बंगलौर, महीशूर, काँची, त्रिचनापल्ली, मदुरै, रामेश्वर, धनुष्कोटि, कन्याकुमारी, काष्ठायन से तैलमन्नार, कोलम्बो, काण्डी, आदममन्दिर, अनुराधापुर, धनुष्कोटि कन्याकुमारी, रामेश्वरी में नाना आदि का मिलन।''

'योगी का आत्मचरित्र' के यात्रा क्रम में ११० स्थान गिनाये गये हैं। यह हरीद्वार से प्रारम्भ होता है और रामेश्वर में नाना के मिलने से समाप्त होता है। यद्यपि इस यात्रा क्रम में तिथि वार, मास, ऋतु और सम्वत् का कहीं वर्णन नहीं किया गया ताकि पाठकों को धोखा दिया जा सके। तथापि सतर्क विद्वान जानते हैं कि सम्वत् १६१२ का कुम्भमेला बैशाख सम्वत् १६१२ तदनुसार अप्रैल सन् १८५५ में समाप्त हुआ था और तब ही से महर्षि दयानन्द ने अपनी उत्तराखण्ड की यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। रामेश्वर में महर्षि का नाना साहब आदि के साथ तथाकथित सम्मेलन नाना साहब की ५७ की क्रांति की पूर्णपराजय के पश्चात ही हो सकता है। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम को पूर्णपराजय अप्रैल सन् १८५६ को हुई थी अतः उसके कई साल के पश्चात् ही यह मिलना सम्भव हो सकता है। कम से कम यह सम्मेलन अक्टूबर १८५६ में हो सकता है। वीर सावरकर ने अपने इतिहास में इस तरह लिखा है:-

So fought Avadh from june to november 1858] from november to december until April of 1859. When she was pushed from all sides towards Nepal. At this time the number of revolutionaries who entered was about sixty thousands. They were led by Nana sahib, Bala sahib and Begam sahib (This Indian War of Independence),

अर्थात अवध अंग्रेजों के विरुद्ध अप्रैल १८५६ तक लड़ा, परन्तु अंग्रेजों ने क्रान्तिकारियों को सब ओर से नेपाल की ओर धकेल दिया, उस समय क्रान्तिकारियों की संख्या जो नेपाल में प्रविष्ट हुये थे ६० हजार थी, जिसका नेतृत्व नाना साहब, बाला साहब और अवध की बेगम कर रही थी। नाना साहब की उपस्थिति नेपाल राज्य के अन्दर सन् १८५६ के अन्त तक मानी जाती है। इससे आगे उसके जीवन के सम्बन्ध में किसी को पता नहीं। वास्तविकता तो यह है कि महर्षि दयानन्द जी का नाना साहब के साथ मिलन कभी हुआ ही नहीं, (हम इस को पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध करेंगे कि महर्षि दयानन्द जी का किसी भी क्रान्तिकारी नेता से मेल नहीं हुआ) परन्तु दुर्जनतोष न्याय से मान भी लें कि रामेश्वर में स्वामी जी नाना साहब से मिले थे तो वह नवम्बर १६५६ का हो सकता है। इस हिसाब से 'योगी का आत्मचरित्र' वाली यात्रा अप्रैल १८५५ से नवम्बर सन् १८५६ तक रही अर्थात चार वर्ष ७ महीने तक महर्षि दयानन्द उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्र में नहीं जा सके। परन्तु फिर भी स्वामी सच्चिदानन्द जी झूठ बोलने में कितना दुःसाहस करते हैं, कि "इस यात्रा में थियोसोफिस्ट वाले सब स्थान आ गये। वह संक्षिप्त है, यह आत्मचरित्र विस्तृत है"। (पूर्वाद्ध पृ0 १३५)

यह बात सच्चिदानन्द जी ने पाठकों की आंखों में धूल झोंकने के लिए लिखी है कि कौन पाठक इतना कष्ट करेगा कि दोनों आत्मचरित्रों का मिलान करे? परन्तु सतर्क पाठक इस धोखे में नहीं आ सकता। मैंने इस लेख में दोनों आत्मचरित्रों के यात्रा क्रम विस्तार के साथ लिख दिये हैं। मैंने थियोसोफिस्ट के आत्मचरित्र से उत्तर प्रदेश के १८ स्थानों के नाम लिखे थे, अर्थात काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढमुक्तेश्वर, गढमुक्तेश्वर से आगे गंगा का तट, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर, बनारस, चण्डालगढ़। सच्चिदानन्द जी (यह दावा करने वाले कि इस यात्रा में थियासोफिस्ट के सब स्थान आ गये हैं) 'योगी के आत्मचरित्र' में यह दिखलाएं कि उस यात्रा में जो ११० स्थान लिखे हैं

उनमें उत्तर प्रदेश के उपरोक्त १८ स्थानों में से किसका नाम इस यात्रा क्रम में देखा है? इससे बड़ा झूठ और क्या हा सकता है कि महर्षि दयानन्द जी के अपने हाथ से लिखे हुये थियोसोफिस्ट के सर्वमान्य निर्दोष आत्मचरित्र के साथ दीनबन्धु जी के कपोललिखित झूठ आत्मचरित्र को मिलाया जाय? थियोसोफिस्ट में ऋषि दयानन्द २ वर्ष तक अर्थात अप्रैल सन् १८५५ से अक्टूबर १८५७ तक उत्तर प्रदेश से बाहर एक कदम रखना भी नहीं मानते और दीनबन्धु जी का कल्पित दयानन्द केवल दो मास उत्तर प्रदेश के पहाड़ों में घूमना मानते हैं परन्तु उत्तर प्रदेश के १८ मैदानी नगरों में एक कदम रखना भी नहीं मानते और कश्मीर, लदाख, तिब्बत, नेपाल, दार्जिलिंग, आसाम, उड़ीसा, दक्षिणी भारत और लंका की हवाई सैर करते हैं। सच्चिदानन्द जी दोगले का काम करते हैं। एक ओर तो अपने पूर्वाद्ध के पृष्ठ १०६–१०७ में ऋषिदयानन्द को सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम का नेता बनाने के लिए सन् १८५६ के अप्रैल मास से पहाड़ों पर से उतार कर अक्टूबर सन् १८५७ तक उत्तर प्रदेश के गंगा के दोआब में घूमाते हैं, उधर दीनबन्धु जी की हां में हां मिलाने के लिये पहाड़ से नीचे नहीं उतरने देते ऐसा न हो कि गंगा के मैदान में उनके पैर पड़ जायें) और उधर से उधर ही लंका की सैर कराते हैं। क्या इस झूठ का कोई ठिकाना है? कि एक दयानन्द के दो हिस्से बना डाले। दयानन्द के व्यक्तित्व का एक न .... सच्चिदानन्द की जो प्रेतात्मा के साथ नाना जी, तात्याटोपे जी, लक्ष्मी बाई जी के साथ रणभूमि में जूझ रहा है देखिये योगी का आत्मचरित्र पूर्वार्द्ध पृ0 १११–११२ तथा चित्र ११२ के सामने। दयानन्द का दूसरा भाग उन्हीं दिनों तिब्बत और लदाख की सैर करते हुये वेदपन्थी ईसामसीह पर बलिहार जा रहा है। सन् सत्तावन के स्वतन्त्रता संग्राम की हवा तक अपने को नहीं लगने देता और सन् १८५८ के अन्त में रामेश्वर के तीर्थ में स्वतन्त्रता संग्राम के मरे हुओं का पिण्डदान कर रहा है। इसीलिये कहते हैं नादान दोस्त से सयाना दुश्मन अच्छा। अपने आपको ऋषि दयानन्द का भक्त कहने वाले **ऋषिदयानन्द के पवित्र जीवन पर दम्भी, छली,**

कपटी, झूठा, डरपोक होने का कलंक लगावे, इससे बढ़कर आर्यसमाज का अहित और क्या हो सकता है?

ऋषि दयानन्द को सन् १८५७ का नेतृत्व करने वाला बतानेवाला सच्चिदानन्द बतलावे कि दीनबन्धु जी के लिखे हुए यात्रा क्रम में कौन-सा ऐसा कार्य है जिसमें उन्होंने स्वतन्त्रता युद्ध में एक फली भी फोड़ी हो? कश्मीर से लेकर नेपाल तक, तिब्बत और आसाम तक वहाँ से बंगाल और दक्षिण भारत तथा लंका तक पहुंच कर, उन्होंने कौन सा ऐसा काम किया जिससे स्वतन्त्रता संग्राम में कुछ भी सहायता मिली हो। ११० यात्रा स्थानों में से केवल पिछले स्थान रामेश्वर में साधुओं के संघटन की बात की, वह भी उस समय जबकि स्वतन्त्रता संग्राम समाप्त भी हो चुका था और सारे भारत में शांति स्थापित हो चुकी थी **और रामेश्वर में जो धुर दक्षिण में है जहाँ स्वतन्त्रता संग्राम की हवा भी नहीं जाती थी।** क्या राख में आहुति डालने की मूर्खता का काम महर्षि दयानन्द जैसा मनीषी कर सकता था? या दीनबन्धु जैसा कल्पना के आकाश में घूमने वाला लालभुझक्कड?

ऋषि और धूनी : एक और बड़ी बहादुरी का काम दीनबन्धु जी के कल्पित दयानन्द ने किया वह यह था कि वह खाकी बाबा का ढ़ोंग रचाकर धुनी लगाकर बैरकपुर के सैन्यवास के सामने वृक्ष के नीचे बैठ गया था, वहां एक मंगल पाण्डे ने और दो फौजी आदमियों ने अपने को फौजी बताकर परिचय दिया और (औरतों की तरह) रोते हुए ही कहा, महाराज, सरकार ने एक विचित्र तरह की कारतूस व्यवहार करने के लिए भेजी है। सुना जाता है इसमें गाय और सुअरों की चरबी मिली हुई है, उसको दांतों से काटना पड़ता है .... जाने देने के लिए हम बहुत से सिपाही तैयार हो गये। ...आप हम सब को आशीर्वाद दीजिये'' मैंने आशीर्वाद दिया- ''जीना और मरना दोनों ही धर्म के लिए है- भगवान आपके हृदयों में शक्ति प्रदान करे'' (योगी का आत्मचरित्र पृ0 २२८)

परन्तु इस झूठे दयानन्द की पोल महर्षि दयानन्द ने इस तरह खोली "गंगा तट पर कुछ समय का कालयापन करके मैं फर्रुखाबाद पहुंचा और फिर स्रीनजीरम होता हुआ छावनी के पूर्वी मार्ग से सं0 १६१३ को समाप्ति पर कानपुर पहुँचा।" इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी महाराज सन् १८५७ के प्रारम्भिक महीनों में गंगातट पर फर्रुखाबाद के पास घूम रहे थे। जबकि मंगल पाण्डे वहाँ से सैकड़ों मील दूर बैरकपुर की छावनी में थे। इतिहास यह बतलाता है कि सैनिकों में चरबी लगी कारतूसों के प्रयोग से उत्तेजना फरवरी सन् 1857 से फैली। सावरकर ने अपने इतिहास में लिखा है- "It appeared probable that the first experiment would be made on the 19th regiment; it was the month of February 1857. Of all the regiments stationed in Bengal the 34th was most anxious to start the Revolution." (The Indian war of Independence P. 86)

अर्थात् यह सम्भव प्रतीत होता है कि कारतूसों के प्रयोग का परीक्षण सबसे पहले १६वीं रेजीमेंट में फरवरी सन् १८५७ को हुआ बंगाल में ठहरी हुई सब रेजीमेंटों में (मंगल पाण्डे) ३४वीं रेजीमेंट विद्रोह को प्रारम्भ करने के लिए सबसे अधिक इच्छुक थी। इस प्रमाण से नकली दयानन्द की मंगल पाण्डे को आशीर्वाद देने की वार्ता भी झूठ निकलीं। बेचारे दीनबन्धु पर सबसे अधिक गजब ढाया, स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने जो इसका सबसे बड़ा हिमायती और संरक्षक बनकर खड़ा हुआ था और जिसके ऊपर दीनबन्धु ने अपना सब कुछ अर्पण कर दिया था, उस ही योगी जी ने दीनबन्धु जी के झूठ के भाण्डे चौराहे में पटक दिये। आप अपने अनुसन्धान के पृ0 107 पर लिखते हैं- "Thence again to Sambhal Muradabad वहां से दोबारा सम्भल मुरादाबाद से After crossing Garh Muktashwar I found my self again on the banks of Ganges. फिर दोबारा मैंने अपने को गंगा के किनारे पाया .... having lingered some times on the banks of Ganges. जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल १८५७।" इस प्रकार से दीनबन्धु जी के कल्पित दयानन्द की बैरकपुर छावनी के

आस पास घूमने की सब आशायें समाप्त हो गई। स्वामी सच्चिदानन्द जी ने एक और अनर्थ कर डाला! उन्होंने २१ मार्च सन् १८७१ के सर्वेक्षण में लिखा "उस समय महाराज कानपुर, इलाहाबाद, मिर्ज़ापुर, काशी के आस पास ही विचरण कर रहे थे। २६ मार्च को सन् १८५७ दिल्ली के परेड मैदान में मंगल पाण्डे ने विद्रोह का आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी अफसर को मार दिया।" अब दीनबन्धु जी ही नहीं उनके साथ ही सन् १८५७ के इतिहास के लिखने वाले सब विद्वान भी मुण्ड पकड़ पकड़ कर रोये, क्योंकि सच्चिदानन्द योगी जैसे शक्ति सम्पन्न योगी जब अपनी सिद्धियों के बल पर इसको बैरकपुर की छावनी से उठा कर दिल्ली अपने वेद विद्यालय के पास ले आया, तो उसके हाथों से छुड़ाने की शक्ति किसमें है? धन्य है कलियुग के योगी महाराज? उनके लिये कुछ भी कहना और कुछ भी लिखना असम्भव नहीं !

पाठक वृन्द मेरे पिछले लेखों में महर्षि दयानन्द जी के स्वलिखित आत्मचरित्र और दीनबन्धु जी द्वारा 'योगी का आत्मचरित्र' नामी पुस्तकों में लिखे हुए ऋषि दयानन्द के हिमालय यात्रा क्रमों को पढ़ चुके होंगे? उन दोनों का मिलान करते हुए पाठकों ने देखलिया होगा कि दीनबन्धु जी की पुस्तक में लिखा हुआ यात्राक्रम महर्षि दयानन्द जी के **स्वलिखित आत्मचरित्र के यात्राक्रम से सर्वथा भिन्न है।** ऋषि जी द्वारा लिखित ३८ यात्रा स्थानों में से १८ स्थानों को रद्द करके दीनबन्ध जी ने उसके स्थान में अपने मनघड़ंत ६२ स्थानों को भर दिया है। इस मनघड़ंत यात्रा की वकालत करते हुये तथाकथित योगी सच्चिदानन्द जी लिखते हैं- "इस यात्राक्रम में थियोसोफिस्ट (स्वामी दयानन्द लिखित) वाले सब स्थान आ गये।" परन्तु पाठक पहले देख चुके हैं कि थियोसोफिस्ट वाले १८ स्थानों का दीनबन्धु जी वाले यात्रा क्रम में कहीं संकेत भी नहीं। ये १८ स्थान उत्तर प्रदेश के ऐसे स्थान हैं जो सारे भारत में ही नहीं सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। ये स्थान रामपुर, काशीपुर, सम्भल, मुरादाबाद, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, मिर्ज़ापुर,

असूल जी, चण्डालगढ़ आदि है। परन्तु योगी की सत्यता का इस ही से अनुमान कीजिये कि वे दीनबन्धु जी के यात्रा क्रम में थियोसोफिस्ट के सब ही स्थानों का आना स्वीकार करते हैं। योगी जी के १३५ पृ० में दिये हुये यात्रा क्रम में ११० स्थान वे हैं जो अप्रैल सन् १८५५ से लेकर (हरिद्वार से) नवम्बर सन् १८६० मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी के स्थान तक है। इन ११० स्थानों को अच्छी प्रकार से पड़ताल करके सत्यान्वेषी आर्य सज्जन देखें कि क्या इनमें उत्तर प्रदेश का कोई भी स्थान है या नहीं? सच्चिदानन्द जी की यह दोगली चाल देखिये कि एक ओर तो दीनबन्धु जी के उस यात्रा क्रम को अक्षरश: सत्य मानते हैं जिनमें उत्तर प्रदेश के किन्हीं स्थानों का संकेत तक नहीं जहां सन् १८५७ की जन क्रान्ति का घोर आन्दोलन चल रहा था और लाखों मनुष्य रक्तरंजित हो रहे थे, उधर दीनबन्धु जी के यात्राक्रम के सर्वथा विपरीत उस कार्यक्रम को भी अक्षरश: सत्य मानते हैं जिसमें महर्षि दयानन्द उत्तर प्रदेश और नर्मदा तट के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रान्त में एक कदम भी नहीं रखते। इतना ही नहीं, योगी जी यहां तक मानते हैं कि स्वामी जी **१८५७ की सैनिक क्रान्ति युद्ध के सब स्थलों पर गये थे** और उन्होंने क्रियात्मक रूप में उसमें भाग लिया था।[1] इस प्रकार के लेखों से योगी जी ने दीनबन्धु जी के लेख को स्वयं ही निर्मूल कर दिया।

दक्षिण यात्रा की मिथ्या कहानी: अब दीनबन्धु जी द्वारा लिखित ऋषि दयानन्द की दक्षिण भारत की यात्रा पर विचार करते हैं। स्वामी दयानन्द जी के मुख से कहलाया गया है- 'एक दिन भारत महासागर की तरफ मुख करके एकान्त बैठे हुए हम भारत के धर्म और स्वतंत्रता की विराट समस्या पर आंखें बन्द करके सोच विचार कर रहे थे।

---

1 ऐसा लिखकर सच्चिदानन्द ने एक ऐसा झूठ परोस दिया है जो किसी भी बुद्धिमान के गले नहीं उतरता। विद्रोह तो हिसार में भी हुआ। वहाँ महात्मा मुंशीराम के पिता को तो वह दिखाई नहीं दिये। उन्होंने तो प्रथम बार बरेली में ऋषि दर्शन किये। जहाँ जहाँ विप्लव हुआ, वहाँ 2 ऋषि गये, यह तो वैसे ही असम्भव है। – जिज्ञासु

अचानक पीछे से शब्द आया- ''हम योग माया मन्दिर के समाचार लाये हैं।'' मुख पीछे की ओर घुमाकर देखा तीन मुण्डित मस्तक गैरिक वस्त्रों से सज्जित और कमण्डलधारी संन्यासी आ रहे हैं। उनमें से एक को शिवाजी के सतारा सिंहासन के उत्तराधिकारी नाना साहब को पहचान लिया। शेष दोनों अपरिचित थे। नाना साहब ने दोनों आगन्तुकों का परिचय दिया- एक तात्या टोपे और दूसरे मेरे साथ दुर्जेयराव।'' इससे पहले पृष्ठ पर भी लिखा है- ''विरोधी प्रजाजन ५०-६० हजार नेपाल की सीमा पर नेपाल राज्य के आश्रय-प्रार्थियों के रूप में हाजिर हो गये थे। नेपाल राज्य के श्री जंगबहादुर ने कड़ी भाषा में आश्रय देने से इन्कार कर दिया था। नाना साहब, तात्या टोपे और कई एक नेता विद्रोहियों के साथ थे।'' (योगी का आत्मचरित्र पृ0 २३७-२३८)

इन उद्धरणों को 1857 की क्रान्ति के इतिहास की रोशनी में पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि दक्षिण भारत की ऋषि दयानन्द की यात्रा सर्वथा मनघडन्त है। पहले तो यही बात सन्देह पैदा करती है कि ऋषि दयानन्द जी जैसे स्थित प्रज्ञ और ऋतम्भराप्रज्ञ योगी ने नाना साहब के साथ आये हुए तात्या टोपे को क्यों नहीं पहचाना जबकि दीनबन्धु जी और सच्चिदानन्द जी यह मानते हैं कि सन् १८५५ में हरिद्वार कुम्भ मेले पर **तात्या नाना साहब के साथ ऋषि की कुटिया पर दो बार गये और बहुत देर तक ऋषि से वार्तालाप करते रहे थे।** क्या ऋषि दयानन्द इतनी कुंठित बुद्धि वाला था कि ४ वर्ष पहले देखे हुए व्यक्ति को न पहचान सके? यदि ऋषि की ऐसी ही बुद्धि थी तो दीनबन्धु जी के कथनानुसार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सामने यह २८१ पृष्ठ की आत्म कहानी कैसे सुना दी?

इससे दीनबन्धु जी का यह कहना और सच्चिदानन्द जी का यह मानना सर्वथा **झूठ है कि तात्या उस समय भी नाना के साथ था जब क्रान्तिकारियों को नेपाल राज्य के अन्दर धकेल दिया था।**

मैं पिछले लेख में वीर सावरकर के इतिहास से यह सिद्ध कर चुका हूँ कि नाना साहब ६० हजार विद्रोही सेना के साथ अप्रैल सन् १८५९ के पश्चात नेपाल की ओर धकेल दिये गये थे। नानां साहब के साथ उनका भाई बालासाहब अवध की बेगम और उसका छोटा लड़का था। उस समय तात्या नेपाल में नाना साहब के साथ नहीं था अतः यह झूठ भी सिद्ध है। इसके लिए और भी ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

Tatia was to be seen again with Rao Sahib at town of Sikar near Alwar on January 21 at 1859 now, Tatia took leave of Rao Sahib and the army, he took with him two horses a Pony, two Brahman cooks and a man servant. With these followers, Tatia came up to Sardar Man Singh of Gawaliar, who was at that time hiding in Paron Jungles. Man Singh said to him – "You did not do well in leaving the Army," Tatia replied, – "Let that be for better or for worse I am now going to stay with you. I am tired of continual marching" (From Tatia diary) Indian war of independence P. 437.

अर्थात् २१ जनवरी सन् १८५९ को तात्या टोपे सीकर शहर में जो अलवर के पास है फिर राव साहब के साथ दिखाई दिया .... अब तात्या ने राव साहब और सेना से बिदाई ली। उसने अपने साथ दो घोड़े एक खच्चर दो ब्राह्मण रसोइये और एक पुरुष सेवक के रूप में साथ ले लिये। अपने सेवकों के साथ वह पारोन के जंगल में ग्वालियर के सरदार मानसिंह के पास आया जो वहाँ छुपा हुआ था। मानसिंह ने उसे कहा कि तुमने सेना को छोड़कर अच्छा काम नहीं किया। तात्या ने उत्तर दिया कि अच्छा किया या बुरा किया इसको छोड़ों अब तो मैं तुम्हारे साथ ही रहूंगा मैं निरन्तर यात्रा करने से थक गया हूं।''

जब अंग्रेज अधिकारी को पता लगा कि तात्या पारोन के जंगल में मानसिंह के साथ छुपा हुआ है, तो उन्होंने बड़े बड़े प्रलोभन दिखा- मानसिंह को अपने साथ मिला लिया। विश्वासघाती मानसिंह ने ७ अप्रैल

को आधी रात के समय सोते हुए तात्या को बन्दी बना लिया। इतिहास लिखता है:-

On the 7th April 1859 at mid night Tatia fell into the prision of treachery and in the next day in the early of morning, he was taken to the camp of general at Sapri" (P. 438)

"अर्थात् ७ अप्रैल सन् १८५६ को आधी रात के समय तात्या धोखे की जेल में पड़ गया। अगले दिन सवेरे उसको सिपरी के कैम्प में जनरल मोडे के पास लाया गया।" फिर आगे लिखा है कि तात्या को फाँसी

"On the 18th of April, the farce, Called his trial, ended Tatia was sentenced to death and taken to gallows at about four O' clock in the afternoon,"

१८ अप्रैल १८५६ को तात्या का मुकदमा समाप्त हुआ। उसको फाँसी का दण्ड दिया गया और सांयकाल को उसको फाँसी दे दी गई।

तात्या का बयान

तात्या ने अपने मुकदमें के बीच में जो १० दिन तक चला था। कोर्टमार्शल के सामने बयान देते हुए कहा था:-

"What ever I did, I did according to the orders of my master upto Kalpi I was under Nana Sahib, After kalpi I was under Rao Sahib." P. 438.

"मैंने जो कुछ किया वह अपने स्वामी के आदेश से किया। कालपी तक नाना साहब के आदेशों के आधीन था। कालपी के पश्चात् राव साहब के आदेश के आधीन रहा।"

"अंग्रेजों की प्रार्थना पर तात्या ने एक संक्षिप्त ठीक ठीक और मुख्य मुख्य घटनायें विद्रोह के आरम्भ से अब तक मुन्शी को नकल

कराईं। और वह बयान अच्छी इंगलिश में बोलकर कराया। तात्या को वह बयान पढ़कर सुनाया गया। तात्या ने उस पर हस्ताक्षर किए।'' (पृ0 ४३८)

राव साहब को नाना साहब का प्रतिनिधि ३ जून १८५७ को बनाया गया था। इससे सिद्ध होता है कि तात्या अपने मरने से १ वर्ष पूर्व ही नाना साहब से अलग हो गया था। इसलिए तात्या का नाना के साथ नेपाल में रहना और फिर यहां से कन्या कुमारी में जाना सर्वथा झूठ और मनघडन्त कहानी है। नाना साहब का भी कन्या कुमारी में ऋषि के दर्शन करना और उनसे संन्यास लेना भी झूठ है, क्योंकि इतिहास से सिद्ध है कि नाना साहब सन् १८५६ के अन्त तक नेपाल में ही उलझे रहे। और वहाँ ही उसकी मृत्यु हो गई परन्तु ऋषि दयानन्द सन् १८५६ के अन्तिम महीनों में गुरु विरजानन्द के पास मथुरा में पहुंच चुके थे। मथुरा कन्या कुमारी से दो या ढाई हजार मील की दूरी पर पड़ता है। पद यात्रा में कन्या कुमारी से मथुरा पहुंचने में कई मास लग सकते हैं। अतः सन् १८५६ के नाना जी का कन्या कुमारी में जाना और ऋषिदयानन्द का उन दिनों में कन्या कुमारी में उपस्थित होना झूठी कहानी है।

सच्चिदानन्द जी ने भी इस सम्मिलन का कोई प्रमाण नहीं दिया। वे भी इस मामले में सर्वथा चुप थे

देवेन्द्र बाबू ने महर्षि दयानन्द के चरित्र के पृष्ठ ६२ पर लिखा है।

''अतः हमारा विश्वास है कि सम्वत् १९१६ (सन् १८५६) के किसी न किसी समय में ही दयानन्द मथुरा अध्ययन करने आये थे।

अनेक लेखकों से ! अब तक हमने महर्षि दयानन्द के स्वलिखित आत्मचरित्र के आधार पर और प्रामाणिक इतिहासों के आधार पर तथा सच्चिदानन्द जी के लेखों की साक्षी से यह सिद्ध किया है कि 'योगी के आत्मचरित्र' की कहानी जो पृ0 २०६ से २३३ तक लिखी गई है सर्वथा

झूठी और कल्पित है। अब स्वामी जी की आत्मकथित जीवनी के आधार पर जो उन्होंने पूना शहर में सन् १८७५ में सुनाई थी यह सिद्ध करेंगे कि "योगी का आत्मचरित्र" नाम की पुस्तक सर्वथा झूठी और जाली पुस्तक है। स्वयं सच्चिदानन्द जी ने 'योगी का आत्मचरित्र' के पृ0 २१० की टिप्पणी में लिखा है:- "**श्रीनगर से अमर नाथ आदि की यात्रा का वर्णन थियोसोफिस्ट या पूना प्रवचन में नहीं है।** यह सब प्रजा विद्रोह सन् ५७ का संघटन कार्य था। विद्रोह रक्षार्थ नहीं बताया। प्रकाशित करने का वचन ले बंगाल में भिन्न भिन्न लेखकों को दिया।[1] यह भी ऋषि की सावधानी एवं दूर दर्शिता थी।" इसे कहते हैं 'जादू वह जो सिर चढ़के बोले।' सच्चिदानन्द जी ने स्वयं सिद्ध कर दिया कि योगी का आत्मचरित्र महर्षि दयानन्द की लेखनी और कथनी के सर्वथा विरुद्ध है। अतः इस पुस्तक को ऋषिदयानन्द की अज्ञात जीवनी बतलाना जालसाजी है। सच्चिदानन्द जी का यह कहना भी मिथ्या है कि "यह सब प्रजा विद्रोह सन् ५७ का संगठन कार्य था।" इस यात्रा क्रम में श्रीनगर से लेकर कलकत्ता तक की यात्रा में कोई ऐसा कार्य नहीं जिसमें प्रजा विद्रोह के संगठन की बात भी किसी से की गई हो। केवल एक जगह बैरकपुर छावनी के सामने धूनी लगाने की बात कही गई है। इस यात्रा क्रम को पूना प्रवचन में बतलाने में क्या आपत्ति हो सकती थी ? और सन् १८५७ में या १८८० में तो कोई विद्रोह था ही नहीं तो फिर कौन से विद्रोह की रक्षा के लिए यह सावधानी थी और न दूरदर्शिता । यह केवल ऋषिदयानन्द के नाम से ऋषिदयानन्द की दोनों जीवनियों को जो स्वयं उन्होंने लिखीं

---

1 भिन्न-2 लेखकों से वचन लेकर लिखवाने की कहानी तो सर्वथा हास्यास्पद है। भला ऐसा कौन मूर्ख है जो गोपनीय बात को कई व्यक्तियों को लिखवाता बताता है। यह तो ठीक ऐसी ही कहानी है जैसे कोई बुढ़िया पड़ोस के घरों में जा जा कर अन्य वृद्धा स्त्रियों को कहती फिरे कि यह बाद आपही को बताती हूँ और किसी को मत बताना। ऋषि दयानन्द को किसी एक पर विश्वास नहीं था? किसी एक को लिखाकर सन्तोष नहीं था? महान् विचारक् ऋषि दयानन्द का बोंगस योगी ने अवमूल्यन कर दिया। – जिज्ञासु

और कहीं झूठा सिद्ध करने की साजिश थी । इस प्रकार की घृणित साजिश ऋषिदयानन्द और आर्य समाज का प्रच्छन्न शत्रु ही कर सकता है । सच्चिदानन्द जी क्षण में गिरगिट की भान्ति रंग बदलते रहते हैं। बार बार बदलना ही झूठ कहलाता है । पृ0 २१० की पहली टिप्पणी की स्याही अभी सूखने भी नहीं पाई थी कि दूसरी टिप्पणी उसके विरोध में लिख दी। जिसका अभिप्राय योगी जी ने यह निकाला है कि ऋषिदयानन्द ने पूने के दसवें व्याख्यान में बतलाया कि कश्मीर से लेकर नेपाल तक के सब स्थानों का भ्रमण किया हुआ है परन्तु योगी जी के कथनानुसार इस व्याख्यान के ५ दिन बाद अपनी जीवनी के सम्बन्ध वाले व्याख्यान में "श्रीनगर से अमरनाथ आदि की यात्रा का वर्णन इसलिये नहीं किया कि यह यात्रा प्रजाविद्रोह ५७ का संघठन कार्य था और विद्रोह रक्षार्थ नहीं बताया।" कैसे आश्चर्य की बात है कि ऋषिदयानन्द जैसे मनस्वी व्यक्ति के लिये ऐसी बात कही जाए कि ५ दिन पूर्व अपने दसवें व्याख्यान में तो कश्मीर से लेकर नेपाल तक की यात्रा का उद्‌घाटन करे परन्तु १५ वें व्याख्यान में उस यात्रा की बात को छुपावे। यह मस्तिष्क का विकार दयानन्द का है या सच्चिदानन्द का। इसका निर्णय पाठकों को कर लेना चाहिये?[1]

पूना के पन्द्रहवें व्याख्यान में स्वामी जी ने अपनी संक्षिप्त जीवनी सुनाई थी। उसमें एक शब्द भी ऐसा नहीं जिसमें दीनबन्धु जी की कल्पित कथा का आभासमात्र भी हो, परन्तु फिर भी दीनबन्धु जी के वकील सच्चिदानन्द ने तिल का पहाड़ बनाने का प्रयत्न किया है। आपने उपदेश मंजरी के एक वाक्य पर टिप्पणी लिखी है। वाक्य यह है- "वहां से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुंचा जहाँ से अलखनन्दा नदी निकलती

1 योगी सच्चिदानन्द के परस्पर विरोधी कथन यह भी कोई नई योग शैली है अथवा सच्चिदानन्द जी का स्मृति दोष? फ़ारसी में एक कहावत है 'दरोग गोरा हाफ़िज न बाशद' अर्थात् झूठे की स्मृति नहीं होती। - जिज्ञासु

है।'' इसकी टिप्पणी में लिखा है- ''हिमालय पहाड़ पर'' को स्थान जानने के लिये पूना प्रवचन का दसवाँ व्याख्यान देना होगा। ऋषि ने बतलाया है- ''जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी, उस पर मैं इस विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर (इच्छा मृत्यु से) बर्फ में गला कर संसार के धन्धों से निवृत हो आऊँ। परन्तु वहाँ जाकर विचार किया कि इस जगह पर मर जाना कोई पुरुषार्थ नहीं है। अलबत्ता ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना पुरुषार्थ है। हिमालय में जहाँ जहाँ घूमे उसका उल्लेख पूना प्रवचन के दसवें व्याख्यान में इस प्रकार है- महादेव कैलाश के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदार खण्ड का वर्णन किया है। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं ... कश्मीर से लेकर नेपाल तक जो ऊँची ऊँची चोटियां हैं वहाँ देवता अर्थात विद्वान पुरुष रहते हैं। उपदेश मंजरी पृ० ११७ योगी की आत्मचरित्र पृ० २७८ ।

इस टिप्पणी को देकर योगी जी पाठकों पर यह प्रभाव डालना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द दीनबन्धु जी द्वारा लिखे हुए सब स्थानों पर गये थे, परन्तु उनका यह प्रयास बालू में तेल निकालने के समान है।

ऋषि ने पूने के दसवें व्याख्यान में प्राचीन इतिहास का वर्णन किया था, इस वर्णन में कुछ ऐसे स्थान भी थे जहाँ स्वामी जी अपनी उत्तराखण्ड की यात्रा में गये थे, अतः प्रसंगवश स्वामी जी ने उनका वर्णन भी एक अनुच्छेद में इस प्रकार किया है- ''विष्णु बैकुण्ठ में रहने वाले थे। और वहीं उनकी राजधानी का नगर था। महादेव कैलाश के रहने वाले थे। कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदार खण्ड का किया गया है। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं। जिस पहाड़ पर पुरानी अलकापुरी थी, उस पर भी मैं इस विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर बर्फ में गलाकर संसार के धन्धों से निवृत हो जाँऊ, परन्तु वहां पहुंच कर विचार में आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं, अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना ही पुरुषार्थ है। इस

विश्वास के बदलने पर लौट आया था। अब तो विदित होता है कि जीवात्मा की मृत्यु ही नहीं होती है।'' यह अनुच्छेद इतना ही है। इसमें वर्णन किये गये तीन स्थान हैं- बैकुण्ठ, कैलाश और अलकापुरी। इनके इतिहास को स्वामी जी ने केदारखण्ड का इतिहास कहा और इन तीनों के लिए ही 'इन सब ओर घूमे हुए हैं' कहा है। परन्तु पीलिया का रोगी सब जगह पीला ही पीला देखता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्द भी हर जगह अपने मन में समाई भ्रान्ति को ही देखना चाहते हैं। अतः उन्होंने इस अनुच्छेद से ही कुछ वाक्यों को निकाल दिया, कुछ को पीछे से निकालकर पहले कर दिया और उसके स्थान में दूसरे अनुच्छेद के इस वाक्य को जोड़ दिया। ''कश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय की जो ऊँची ऊँची चोटियां हैं वहां देवता अर्थात विद्वान पुरुष रहते हैं।' इस प्रकार से ऋषि के कथन को काट छाँट कर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत पूरी कर दी' और मदान्ध होकर सत्य और असत्य का तनिक भी विचार नहीं किया और पुस्तक के आरम्भ में ही लिख दिया। ''कश्मीर से नेपाल तक सब देश मेरा देखा हुआ है। इसमें सब ओर मैं घूमा हूं'' .... महर्षि दयानन्द का पूना प्रवचन (दशम व्याख्यान)''

सत्य के उपासक आर्य भाई यदि पूना के दशम व्याख्यान को उपदेश मञ्जरी में पढ़ने का कष्ट करें तो उनके हृदय दुःख से सन्तप्त हो उठेंगे कि ऋषिदयानन्द के नाम से इतना बड़ा झूठ एक महामहिम योगी कहलाने वाले संन्यासी सच्चिदानन्द ने बोला है। इस झूठे कथन पर जब २० जनवरी १६७२ के आर्यमर्यादा में श्री भवानीलाल भारती ने युक्तियुक्त आलोचना की और लिखा कि ''पाठकों से मैं निवेदन करूँ कि पूना प्रवचन के दशवें व्याख्यान में यह (कश्मीर से नेपाल तक सब देश मेरा देखा हुआ है) वाक्य बिल्कुल नहीं है? यह योगी जी का सर्वथा मिथ्या कल्पित कथन ही है' तो योगी जी तिलमिलाये और उसके समाधान में आर्यमर्यादा' १० दिसम्बर १६७२ में बड़े भोले बनकर लिखा- ''जब

पण्डित भवानीलाल को अपशब्द प्रयोग करने ही हैं तो वे करेंगे ही। पर आर्यजन दोनों वाक्यों को मिलायें तो सही, अर्थ में कोई भेद नहीं है। न किसी असत्य का प्रयोग ही मैंने किया है''

''मेरा वाक्य:- शिव जी महाराज कैलाश निवासी थे। तथा कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे ... कश्मीर से नेपाल तक सब देश मेरा देखा हुआ है। मैं इन सब ओर घूमा हुआ हूँ।' (यहाँ भी योगी जी ने झूठ लिखा है, क्योंकि उनकी पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठ पर 'रहने वाले थे' और 'कश्मीर' के बीच बिन्दियां डैश नहीं, परन्तु यहाँ लगा दीं) ''पण्डित भवानीलाल जी का वाक्य''- महादेव कैलाश के रहने वाले थे। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं ... कश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय की ऊँची ऊँची चोटियां हैं वहाँ पर देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं।''

''दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं। फिर हमने असत्य क्या कह दिया? - यदि कोई भिन्न अर्थ होता है तो भवानीलाल जी करके बतावें?''

योगी जी यहाँ बिल्कुल भोले बने हुए हैं। परन्तु क्या वे इतने अनभिज्ञ हैं कि भाषा के साधारण नियमों को भी नहीं जानते? नहीं! वे काफ़ी पढ़े हुए हैं। भूतपूर्व आचार्य राजेन्द्र शास्त्री है। देहली में यूसुफ सराय में एक वेद विद्यालय भी खोला था, अत: हिन्दी भाषा और संस्कृत भाषा के सब ही नियमों को जानते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि भाषा में शब्दों वाक्यों और अनुच्छेदों के उलट फेर करने से अर्थ का अनर्थ या अर्थान्त हो जाया करता है। **परन्तु वे बावले नहीं उनकी गरज बावली है।** इसलिये वे भवानीलाल जी से कहते हैं कि ''वे भिन्न अर्थ करके बतलावें?'' भवानीलाल जी ही भिन्न अर्थ क्यों करें? हर एक विद्वान् पुरुष दोनों वाक्यों में भिन्नता या अन्तर बतला सकता है लीजिये हम सच्चिदानन्द जी और भवानीलाल जी के वाक्यों की भिन्नता बतलाते हैं।

भवानीलाल जी के वाक्य में भाषा और व्याकरण के नियमों के अनुसार 'इन सब ओर' का सम्बन्ध कैलाश और अलकापुरी के आस-पास के पहाड़ों से है। इन' शब्द 'सर्वनाम' है, जिसका प्रयोग वक्ता पूर्व कथित या पूर्वदृष्ट निकटतम पदार्थ के लिए करता है। दूर के पदार्थों या आगे कहे जाने वाले पदार्थों के साथ 'इन' का सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये भवानीलाल जी के वाक्य में **'हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए' का अर्थ यह हुआ कि स्वामी जी कैलाश और अलकापुरी के पहाड़ों की ओर घूमे हुए थे न कि अगले अनुच्छेद में कहें हुए कश्मीर से नेपाल तक में।'**

परन्तु योगी जी ने भवानीलाल जी के विरुद्ध यह लिखा कि "कश्मीर से लेकर नेपाल तक सब देश मेरा देखा हुआ है" भवानीलाल जी के अर्थ में कश्मीर से नेपाल तक देखना नहीं आता है और न भवानीलाल जी के अर्थ में कश्मीर से नेपाल तक घूमना आता है। परन्तु योगी जी के वाक्य में घूमना और देखना दो शब्द हैं। यह तो साधारण व्यक्ति भी जानता है कि एक में और दो में बड़ा अन्तर होता है। देखना और घूमना भी भिन्न भिन्न ही होते है। योगी जी ने "मैं (हम स्वयं भी) इन सब ओर घूमा हुआ (घूमे हुये हैं)' वाक्य को पहले अनुच्छेद के बीच में से निकालकर अगले अनुच्छेद की बीच में (कश्मीर से नेपाल तक के अन्त में) घुसेड़ दिया इसलिये अर्थ का अनर्थ हो गया और तिल का ताड़ बन गया। फिर भी योगी जी भोले बनकर कहते हैं "हमने असत्य क्या कह दिया?" गोया योगी जी की सत्य और असत्य की परिभाषा जगत् से निराली है। वे असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानते हैं। योगी जी ने कल्पित यात्रा को सच्ची सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाणभासों से कागज़ काले किये हैं। कल्पित यात्रा में दिये गये पर्वतों, मन्दिरों और स्थानों के फोटों, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और दूरी का वर्णन किया है। परन्तु इन भौगोलिक वर्णनों से ऋषि दयानन्द का उन उन स्थानों में जाना सिद्ध नहीं हो सकता। एक मनुष्य घर में बैठा हुआ देश देशान्तरों और

लोक लोकान्तरों के वृत्तान्तों को उनके नगरों, पर्वतों, नदीनालों, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, दूरी, जनसंख्या आदि के वृत्तान्तों को तत्स्त सम्बन्धी पुस्तकों और पूछताछ के द्वारा जान सकता है। उनकी यह जानकारी उन लोगों का वहाँ स्वयं जाना सिद्ध नहीं कर सकती।

योगी जी की दीनबन्धु जी के कल्पित 'योगी का आत्मचरित्र' के समर्थन में लिखी हुई सारी सामग्री हेत्वाभासों, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से भरी हुई है। उनमें पूर्वापर सम्बन्धों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। उदाहरण के लिये- थियोसोफिस्ट के लेख में (पृ0 २९९) लिखा है:- 'मैंने यहाँ दृढ़ निश्चय किया कि मैं योगियों को समस्त देश में विशेषकर पहाड़ों में खोज निकालूंगा।' इस लेख को लेकर योगी जी अपनी पुस्तक में लिखी हुई कश्मीर की यात्रा को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु योगी जी ने उसी प्रसंग में आई हुई ३०१ पृष्ठ की एक बात का विचार नहीं किया जिसमें दयानन्द जी कहते हैं।, 'किन्तु उसी समय यह विचार आया कि अच्छा होता यदि मैं वापिस जाकर अपने अध्ययन कार्य में लग जाता।'

इस से पता चलता है कि ऋषि दयानन्द ने अलखनन्दा स्रोत से लौटते हुये अपने पहले विचार को बदल दिया और समस्त देश और **विशेषकर पहाड़ों की यात्रा का विचार छोड़ दिया।** और तुरन्त ही अपने विचार को कार्यान्विति करने के लिये बद्रीनारायण पहुंच कर रात्री को थोड़ा सा भोजन खाया फिर सो गया 'किन्तु प्रातः काल शीघ्र ही रावल जी से विदा लेकर वापस रामपुर की यात्रा पर निकल पड़ा। रामपुर से स्वामी जी काशीपुर, द्रोणसागर, सम्भल मुरादाबाद आदि चले गये और वहां से गढ़मुक्तेश्वर जाकर गंगा के किनारे के नगरों में होते हुए चण्डालगढ़ चले गये। वहाँ से नर्मदा के स्रोत की ओर चले गये। योगी जी ने पृ0 २९९ के लेख के आधार पर दीनबन्धु के कल्पित हिमालय पर्यटन को सत्य सिद्ध करना चाहा था परन्तु वह ऋषिदयानन्द लिखित पृ0 ३०१

के लेख से झूठा सिद्ध हो गया, और **ऋषिदयानन्द पहाड़ों से उतर कर मैदानी प्रदेश में चले गये जहाँ से लौट कर वह हिमालय पर नहीं गये।**

मैंने अपने पिछले लेखों में यह सिद्ध कर दिया है कि 'योगी का आत्मचरित्र' का छटा और सातवाँ अध्याय जिनमें महर्षि दयानन्द की कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक की यात्रा की कल्पित कहानी बड़े विस्तार के साथ (२०६ से ३४३ पृष्ठ) लिखी गई है सर्वथा झूठ और मनघडण्त है। इस प्रकार दीनबन्धु जी की यह सब कहानी सर्वथा बन्ध्या सिद्ध हो गई फिर उसके पेट से ईसा की उत्पत्ति कहाँ से होगी? जब बाँस ही नहीं रहा तो कौन सी बाँसुरी के मीठे स्वर में ईसा के वेदपन्थी, वेदज्ञ, वेदप्रचारक और बुद्ध के अवतार होने के मधुर गीत और स्तुति के भजन गाकर ईसाइयों की वाह-वाह लूटकर धन प्राप्ति की लिप्सा पूरी होगी? अब मैं योगी का आत्मचरित्र के पाचवें अध्याय के मिथ्यात्व पर विचार करूंगा। यह अध्याय दीनबन्धु जी ने ३१ पृष्ठों (१७८ से २०८ पृष्ठ तक) में लिखा है। इसमें वर्णित सब बातें ऋषि दयानन्द के मुख से कहलाई गई हैं। परन्तु इन 31 पृष्ठों में महर्षि दयानन्द के मुख की एक बात भी नहीं है, यह सब दीनबन्धु जी के मन की कल्पना है। इस अध्याय में ऋषि की तथाकथित उस यात्रा का वर्णन है जो उन्होंने सम्वत् १६११ वि0 में आबू से लेकर हरिद्वार कुम्भ के मेले तक की थी। इसके मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये हम ऋषि दयानन्द के स्वलिखित आत्म चरित्र (थियासोफिस्ट १८८०) में से उस सन्दर्भ को रखना आवश्यक समझते हैं जिनमें ऋषि ने आबू से हरिद्वार तक की यात्रा का वर्णन किया है। ऋषि जी लिखते हैं:-

'स0 १६११ की समाप्ति पर (आबू से) हरिद्वार के कुम्भ के मेले में मैं पहली बार सम्मिलित हुआ, जहाँ बहुत से ऐसे महात्मा और दार्शनिक महापुरुष इकट्ठे होते हैं जिनके साधारणतया दर्शन दुर्लभ हैं। जब तक मेले में यात्रियों की भीड़भाड़ बनी रही मैं चण्डी के जंगल में

एकान्त स्थान में रहा और योगाभ्यास करता रहा। यात्री लोगों के हट जाने पर मैं ऋषिकेश चला गया जहाँ कभी-कभी पवित्रात्मा योगियों की संगति में किन्तु प्राय: एकाकी ही योग का अध्ययन और अभ्यास करता रहा।'

ऋषि ने आबू से हरिद्वार तक अपनी यात्रा केवल ७ पंक्तियों में लिखकर गागर में सागर भर दिया। यह यात्रा क्या है? सच्चे मोतियों की माला एक हीरे की कणी है। सच्चे आत्म ज्ञानी, परम वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ, सरल हृदय, शान्त, दान्त निर्भय परमयोगी, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ और पवित्रात्मा के चरित्र की मुंह बोलती तस्वीर है। एक पारखी इन सात पंक्तियों में ही ऋषि के सच्चे दर्शन कर लेगा। इन ही पंक्तियों में उसे गीता के दूसरे अध्याय में वर्णित स्थित प्रज्ञ और समाधिस्थों की परिभाषा की गूंज सुनाई देगी। गीता के 13 अध्याय में वर्णित- "विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि। अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्तवज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिनि प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।" की ये पंक्तियाँ प्रतिध्वनि है। गीता के १८वें अध्याय में कथित:-

"विविक्तसेवीलध्वासी यतवाक्कायमानस:।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित:।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।"

ये श्लोक मानो ऋषि जी चण्डी के जंगल में योगारूढ़ अवस्था का ही वर्णन कर रहे हैं। योगेश्वर की लिखी हुई ये सात पंक्तियाँ ही उसकी ऋद्धि सिद्ध और विभूतियों का वर्णन कर रही हैं। जिसकी अन्दर की आखें हैं वे देख सकते हैं और अन्दर के कान हैं वे सुन सकते हैं। महापुरुष थोड़े में ही बहुत कुछ कह जाते हैं। उन्हें अधिक लपा-लपी की आवश्यकता नहीं पड़ती वे अपने आप को कभी योगी और महामहिम नहीं कहते, परन्तु लोग स्वयं उनको योगी और ऋषि कहते हैं। यह काम तो अत्यन्त क्षूद्रजनों का होता है जो स्वयं अपने को योगी योगी पुकारते फिरते

हैं। फिर भी जनता उनकी कुत्ते जितनी भी कदर नहीं करती। मूर्ख जन चाहे उन्हें योगी क्या ईश्वर भी कह दें परन्तु विज्ञ लोग तो उनको निरा लम्पट ही कहते हैं। परमयोगी महर्षि दयानन्द जी को उपरिलिखित पंक्तियों के प्रकाश में ही कल्पित दयानन्द के कथन और स्वरूप को परखना चाहिये। दीनबन्धु जी ने ३१ पृष्ठों में कल्पित दयानन्द का चरित्र लिखा है, परन्तु यह लेख ऋषिवर दयानन्द के लेख से चाहे सौ गुणा विस्तृत है, परन्तु यह ऋषि के लेख की तुलना में घासफूस और कूड़ेकर्कट के ढेर के समान है। दीनबन्धु जी एण्ड कम्पनी का सारा प्रयत्न ऋषि दयानन्द के विमल चरित्र को कलंकित करने का एक सुनियोजित षड्यन्त्र है। तथाकथित योगी सच्चिदानन्द ने कई बार यह स्पष्ट कहा है 'कि स्वामी जी का स्वलिखित आत्म चरित्र झूठा और धोखे से भरा है' इसके प्रमाण में मैं फिर लिखूंगा।

परन्तु जिस आत्म चरित्र को यह पार्टी सर्वथा शुद्ध और पवित्र मानती है उसमें वर्णित दयानन्द के चरित्र को 'योगी का आत्मचरित्र' के पृष्ठ १७८ से २०८ तक पढ़ कर देखें?

इसमें वर्णित दयानन्द कस्तूरी के मृग की भान्ति गलियों में बाजारों में, पैठों में, दुकानों में, स्नानगारों, नहाने के घाटों में, सरायों में, धर्मशालाओं में, मन्दिरों में, मस्जिदों में, सरकारी कर्मचारियों के दफ्तरों में, मेलों में, ठेलों में, भिखमंगों में, सुलफा गांज़ा पीने वालों में, स्त्रियों में, पुरुषों में, अमीरों में, गरीबों में, रात में, दिन में, षड्यन्त्रकारियों में और गुप्त समितियों में मारा-मारा फिरता है। उसे एक घड़ी चैन नहीं।

आबू से हरिद्वार तक पहुंचने के वर्णन में ११ पृष्ठ भर गये हैं, जबकि ऋषि दयानन्द के स्वलिखित चरित्र में उसके लिये एक शब्द भी नहीं लिखा।

ऋषि ने क्यों नहीं लिखा? इसलिये कि ऋषि ने उस यात्रा में कोई

विशेष घटना न देखी और न सुनी। परन्तु दीनबन्धु जी ने ११ पृष्ठों में यह सफेद झूठ क्यों घड़ कर रख दिया?

इसलिये कि हरिद्वार में होने वाले कुम्भ के मेले में दयानन्द का १८५७ की जनक्रान्ति के नेताओं से मेल होने की भूमिका को बांधा जा सके और फिर संसार के ऐतिहासिकों को आश्चर्य में डालने वाली अनोखी और सर्वथा निराली खोज का सम्बन्ध ऋषि दयानन्द से जोड़कर आर्य समाजियों में खूब जोर से ढ़िंढोरा पीटकर उनसे मनमाना धन लूटा जा सके।

इस झूठ का पर्दाफाश करने के लिये दीनबन्धु जी की पुस्तक में मेरठ से हरिद्वार तक की यात्रा का वर्णन पढ़िये!

यह भूल भुलैयाँ : "दिल्ली से मेरठ- हरिद्वार कुम्भ मेले के यात्री हम सब साधु लोग यथा समय दिल्ली से मेरठ पहुंच गये थे। तीर्थ[1] यात्रियों के अन्दर सैकड़ों गृहस्थ स्त्री पुरुष भी थे।

मेरठ से लगभग चार योजन दूरी पर पाण्डवों की पुरानी राजधानी हस्तिनापुर है। गंगा नदी वहाँ से धीरे-धीरे हटती जा रही है। वहाँ से हम गढ़मुक्तेश्वर गये थे।

मेरठ के पास ही परशुराम की जन्मभूमि और जमदग्नि का आश्रम है ऋषि बाल्मीकि का आश्रम भी वहां ही था। वहाँ के पुराने आश्रमों में योगसिद्ध पुरुषों का सन्धान नहीं मिला।

तीर्थ यात्रियों के पीछे घुड़सवार श्वेताँग सैनिक भी तीर्थयात्रियों की रक्षा के बहाने से आते थे ... सरकारी कर्मचारियों के पीछे

---

1 महर्षि दयानन्द कलकत्ता जब गये तो जल स्थल को तीर्थ नहीं मानते थे। गपें गढ़ने वाले इन लोगों ने बार-2 इस शब्द का प्रयोग करके अंधविश्वास को ही बल दिया है। -जिज्ञासु

बन्दूकधारी पलटन बहुत संख्या में थी। गृहस्थ तीर्थयात्री चारों तरफ भाग गये थे। ... हम सब साधु लोग दलबद्ध न होकर चार चार पाँच पाँच करके एक साथ रहकर हरिद्वार की तरफ चलने लगे ... किन्तु गुप्तचर कर्मचारियों के सन्देह करने के डर के मारे कोई साधु किसी साधु से बातचीत करना निरापद नहीं समझता था।

मेरठ से हरिद्वार की यात्रा के वर्णन को पढ़कर मेरठ प्रान्त की सड़कों और मार्गों से परिचित एक व्यक्ति झट यह समझ जायेगा कि यह यात्रा सचमुच कोई देहधारी व्यक्ति नहीं कर रहा, अपितु यह यात्रा कलकत्ते में बैठे दीनबन्धु जी का कल्पनाशील मन कर रहा है। मेरठ से हरिद्वार के लिये यात्रा नहीं अपितु तेली के बैल का चक्कर काटना है। कैसे?

जरा ध्यानपूर्वक पढ़िये! मैरठ से हस्तिनापुर उत्तरपूर्व की दिशा में १० मील हस्तिनापुर से गढ़मुक्तेश्वर दक्षिण दिशा में ३२ मील; गढ़मुक्तेश्वर से फिर मेरठ पश्चिम दिशा में २८ मील (क्योंकि गढ़मुक्तेश्वर से हरिद्वार जाने के लिये मेरठ होकर ही जाते हैं) यह चक्कर मेरठ से फिर मेरठ आने का ८० मील हुआ।

मेरठ से बाल्मीकि का आश्रम तथा परशुराम की जन्मभुमि २० मील पश्चिम दिशा में हीण्डन नदी के पश्चिम किनारे पर वालैंनी गाँव के पास है। यहाँ से फिर मेरठ पूर्व दिशा में २० मील इस प्रकार से यह दूसरा चक्कर ४० मील का हुआ।

मेरठ से फिर हरिद्वार मुज़फ्फरनगर रुड़की होते हुए लगभग १०० मील का मार्ग है, परन्तु दीनबन्धु जी ने दयानन्द को २२० मील का चक्कर कटवाया।

दीनबन्धु जी के अनुसार दयानन्द अकेला ही चक्कर नहीं काटता रहा, अपितु उसके साथ सैकड़ों साधु और सैकड़ों स्त्री पुरुष हैं उनके पीछे

सैकड़ों कर्मचारी, घुड़सवार और बहुत सी बन्दूकधारी पलटन भी है।

इस वर्णन को एक जागरूक मस्तिष्क वाला और उस प्रान्त की **भौगोलिक स्थिति से परिचित व्यक्ति एक बेहूदा बकवास के अतिरिक्त कुछ नहीं कहेगा?**

हरिद्वार पहुंचने पर भी दीनबन्धु जी दयानन्द को शान्तिपूर्वक भगवद्च्चिन्तन नहीं करने देते हैं और उसके पैरों में ऐसा चक्कर डाल देते हैं कि वह बेचारा भंगड़, सुलफेबाज, अफीमी, खाकी, नंगधड़ंग ओर न जाने कितने प्रकार के साधु नाम धारी धूर्तों के डेरों पर चक्कर कटवाते हैं। लिखा है:-

"निश्चित रूप से सब ही जगह घूम घूमकर सब कुछ अनुभव किया था।" यह दयानन्द के नाम प्रचारित किया जाता है जो स्वयं कहता है कि **"जब तक मेले में भीड़भाड़ रही मैं चण्डी के जंगल में एकान्त स्थान में रहा और योगाभ्यास करता रहा।"**[1]

अब आगे असली बात आती है जिसके लिये दीनबन्धु एण्ड कं0 ने सारा प्रपंच रचा है, वह है ५७ की क्रान्ति के नेताओं का हरिद्वार कुम्भ मेले में भविष्यत् युद्ध के लिये ऋषि दयानन्द से आशीर्वाद लेना। दीनबन्धु जी लिखते हैं:-

अब तीन दिन बाद ही पाँच अज्ञात नामा और अपरिचित सज्जन हमारे अतिसंकीर्ण कुटीर के सम्मुख आकर पूछने लगे:- "आबूशैल से आये हुये महात्मा जी कहां हैं"?

---

1 लाख यत्न करने पर भी दीनबन्धुजी तथा योगी सच्चिदानन्द का झूठ ऋषि के इन शब्दों से पकड़ ही गया। 'जगह जगह घूमकर' इन शब्दों पर हम उर्दू कवि की यह पंक्ति चरितार्थ होती देखते हैं, "लो आप अपने दाम में सैयाद आ गया।" ये दोनों शिकारी अपने ही जाल में फंस गये। - जिज्ञासु

उनमें प्रथम थे बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र धुन्धुपन्त (नाना साहब) द्वितीय थे उनके बन्धु अजीमुल्ला खाँ तृतीय थे उनके भाई बाला साहब, चतुर्थ थे तात्या टोपे और पंच्चम थे जगदीशपुर के जमीदार कुंवरसिंह।'' योगी का आत्म चरित्र (पृ0 १८६)

फिर आगे लिखा है:- ''**रानी लक्ष्मी बाई और रानी गंगा बाई दो एक रोज के बाद ही झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई और इनकी सहचरी** (पहले सार्वदेशिक में सपत्नी था) रानी गंगाबाई ने तीन कर्मचारियों के साथ वहाँ आकर प्रणिपात किया।[1] परिचय पूछने पर लक्ष्मीबाई आँखों में आँसू भरकर ओजस्विनी भाषा में बोलने लगी:-

मैं नि:सन्तान और विधवा हूं। मेरे पतिदेव की मृत्यु के बाद मेरे श्वसुर कुल के वैध राज्य को अंग्रेजों ने मेरे नि:सन्तान होने के बहाने से अपना राज्य घोषित कर दिया। मेरे पतिदेव के राज्य से मेरा हक चला गया और अंग्रेजों का हक बन गया' सुनते हैं। अंग्रेज सेनापति बहुत अधिक संख्या में फौज लेकर मेरी झाँसी को छीनने के लिये आ जायेगें''

इस प्रकार के लेखों से दीनबन्धु जी आर्य जनता पर यह प्रभाव डालना चाहते है कि सन् १८५७ की जनक्रान्ति के मुख्य सूत्रधार दयानन्द जी ही थे और नाना साहब आदि ६ नेताओं ने उन्हीं से प्रेरणा, आशीर्वाद और आदेश पाकर जनक्रान्ति का युद्ध प्रारम्भ किया था'।

परन्तु यह विचार सर्वथा निर्मूल है। ऋषि दयानन्द से इन नेताओं का न तो कभी सम्पर्क हुआ और न उन नेताओं को ऋषि ने कोई आदेश प्रेरणा या आशीर्वाद ही दिया।

---

1 महर्षि दयानन्द जी इससे पहले तथा इसके पश्चात् भी स्त्रियों से एकान्त में बात करने व उन्हें समूह बनाकर उपदेश सुनने की अनुमति देने से बचते रहे। रानी झांसी जो सर्वथा अपरिचित थी, उसे कैसे अपने निकट आने दिया? सरकारी गुप्तचरों की तो छोड़िये महर्षि के रक्त के प्यासे शत्रुओं ने भी इन लेखों से ऋषि की भेंट को कैसे नोट न किया? -जिज्ञासु

इन नेताओं का हरिद्वार में आना जाना किसी इतिहास से सिद्ध नहीं होता। यह दीनबन्धु जी की अपनी मनघडन्त कहानी है' हम इसको पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध करेंगे। हम पहले लक्ष्मी बाई की बात को ही लेते हैं। लक्ष्मी बाई के सम्बन्ध में दीनबन्धु जी ने चार बातें लिखी हैं:-

१. झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और उनकी सपत्नी (सहचरी पीछे लिखा गया) रानी गंगाबाई स्वामी दयानन्द के पास हरिद्वार कुम्भ मेले के अवसर पर अप्रैल सन् १८५५ में गई।

२. लक्ष्मीबाई ने कहा: मैं नि:सन्तान हूं।'

३. सुनते हैं- अंग्रेज सेनापति बहुत अधिक संख्या में सेना लेकर मेरी झांसी को छीनने के लिये आ जावेंगे।

४. मैं जिन्दा रहती हुई अपने श्वसुर कुल के इस राज्य को दुश्मनों को नहीं दूंगी।

दीनबन्धु जी की ये बात सर्वथा झूठ है। क्यों?

इसलिये कि अप्रैल सन् १८५५ में लक्ष्मीबाई की कोई सपत्नी या **सहचरी रानी गंगाबाई के नाम वाली झाँसी में मौजूद नहीं थी** राजा गंगाधर राव की पहली पत्नी रमाबाई की मृत्यु हो जाने पर ही सन् १८४२ में लक्ष्मीबाई का उसके साथ विवाह हुआ था। अत: १८५५ में लक्ष्मीबाई का अपनी सपत्नी के साथ हरिद्वार में जाना असम्भव है।

दूसरे यह कहना भी झूठ है कि लक्ष्मीबाई नि:सन्तान थी, क्योंकि **सन् १८५३ में ही गंगाधर राव के बालक दामोदर राव को अपना दत्तक पुत्र स्वीकार कर लिया था और रानी लक्ष्मीबाई को उसकी माता घोषित कर दिया था।**

तीसरे यह कहना भी झूठ है कि अंग्रेज सेनापति फौज लेकर झांसी को छीनने के लिये आ जावेंगे, **क्योंकि झांसी को तो सन् १८५४ में ही अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था** और लक्ष्मीबाई के हाथ से सब सत्ता छीन ली गई थी।

जब लक्ष्मीबाई के हाथ में कुछ रहा ही नहीं था तो बड़ी भारी सेना और क्या छीनने के लिये आने वाली थी? जरा इतिहास को पढ़िये-

"७ मार्च सन् १८५४ को झाँसी को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। घोषणा में कहा गया"

"झाँसी फिलहाल पोलिटिकल एजेंट एलिस को सौंपी जाती है। झाँसी के निवासियों को चाहिये कि वे अपने को अंग्रेजों की प्रजाजन समझें।"

(अठारह सौ सत्तावन ले0 श्री निवास बाला जी हार्डीकर पृ0 ३१)

आगे लिखा है 'रानी को झाँसी का किला और महल अंग्रेजों को सौंपना पड़ा, शहर के महल में उसको रखा गया।' (पृ0 ३२)[1]

इस घटना का सब ही इतिहासकार समर्थन करते हैं। विशेषतया सर्वाधिक प्रमाणित वीर सावरकर ने अपने हिन्दी के 'अठारह सौ सत्तावन का स्वातंत्र्यसमर नाम के इतिहास ग्रन्थ में इस घटना का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

डा0 सेन ने लिखा है:- "अत: मार्च सन् १८५४ में ब्रिटिश भारती अधिराज्य में लिया गया और रानी को एक काफी बड़ी पेंशन का वचन दिया गया। उसके जीवन भर के लिये ६० हजार रुपये (वार्षिक पेंशन) निश्चित कर दी गई। यह भी विधान कर दिया गया कि उसके जीवन काल में उसके वैयक्तिक अनुचर वृन्द को वही विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे। दत्तक ग्रहण भी निषिध नहीं किया गया।[2]

---

1 इतिहास के साधारण विद्यार्थी भी सन् १८५४ में झांसी के अंग्रेजी राज्य में विलय की घटना को जानते हैं। दत्तक पुत्र को भी इतिहासकार जानते हैं। न जाने ऋषि के मुख में यह मिथ्या कथन इन लोगों ने क्यों डाले? - जिज्ञासु

2 "In March 1854 the state of Jhansi had been annexed by Dalhousie. Not content with this Dalhousie also laid his hands on the treasure left by the late Gangadhar Rao amounting nearly to seven lakhs of rupees worth of jewellery and cash with the promise that the wealth would be made over to the adpoted son when he comes of age." History of Modern India by Ishwari Prasad Page256. - जिज्ञासु

दामोदर को परिवार के खजाने तथा अपने गोद लेने वाले पिता को वैयक्तिक सम्पति का वारिस स्वीकार कर लिया गया (पृ0 २७४)[1]

फिर आगे लिखा है:- ''जब मेजर ऐलिस ने सरकार के झाँसी को मिलाने सम्बन्धी निर्णय को सम्प्रेषित किया तो उसने साफ और गूंजती हुई आवाज में घोषणा की ''मेरा झाँसी नहीं देंगे''

चाहे यह एक अप्रत्याशित अन्याय का विरोध हो या एक भावुक हृदय का क्षणिक आवेश, झाँसी को मिलाये जाने का कोई प्रतिरोध नहीं किया। लक्ष्मीबाई ने अपने किले में अपने पति का निवास स्थान शान्तिपूर्वक छोड़ दिया और नगर के उस महल में आ गई जो उसको दिया गया था, और वह एक हिन्दू विधवा का जीवन बिताने लगी। उसके सैन्यदल को भगा दिया गया।'' (पृ0 २७६–२७७)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सन १८५४ में मार्च मास से ही झाँसी अंग्रेजी राज्य में मिला ली गई थी और लक्ष्मीबाई का उस पर कोई अधिकार नहीं रहा था। तो फिर अंग्रेजी सेनापति बहुत बड़ी संख्या में फौ़जों को लाकर झाँसी को किस से छीनना चाहते थे?

इतने बड़े झूठ को न तो लक्ष्मीबाई ने किसी से कहा न ऋषि दयानन्द ने किसी से कहा, यह तो केवल दीनबन्धु जी का ही दिलगुर्दा है कि उसको बड़े से बड़े झूठ बोलने में परमात्मा का भय नहीं हुआ।

दीनबन्धु जी ने आर्य समाजियों को धोखा देने के लिये मार्च सन् १८५८ में अर्थात् सन् १८५५ से तीन वर्ष के बाद होने वाली घटना को इतिहासों से चुराकर रानी लक्ष्मी के मुख से हरिद्वार के कुम्भ के मेले सन् १८५५ में कहलवा दिया।

---

1 डॉ. ईश्वरीप्रसाद सरीखे इतिहासकार के प्रमाण से बोगस योगी व दीनबन्धु की कुम्भ मेले की मनघड़न्त कहानी की सारी पोल खुल जाती है। - जिज्ञासु

इस बात में सब ही इतिहासकार सहमत हैं कि जून सन् १८५७ में झाँसी स्थित भारतीय सेना ने विद्रोह कर दिया था और वहाँ के सब ही अंग्रेजों को मार दिया था और विद्रोहियों ने १० जून को लक्ष्मीबाई को झाँसी की गद्दी पर बैठा दिया था। रानी लगभग १० मास तक अर्थात् १० जून सन् १८५७ से ३ अप्रैल सन् १८५८ तक राज्य करती रही। रानी लक्ष्मीबाई की झाँसी को छीनने अंग्रेजों की बहुत बड़ी सेना सरह्यू रोज के नेतृत्व में बड़े दलबल के साथ आ गई और २२ मार्च सन् १८५८ से झाँसी को घेर लिया और ५ अप्रैल को अंग्रेजों ने झाँसी को लक्ष्मीबाई से छीन लिया।

इस सेना के आने को ही खबर सुनकर लक्ष्मी बाई ने सन् १८५८ के आरम्भ में ही यह कहा था- "The Lakshmi Bai of Jhansi declared With her sweet but firm voice " No one can have my Jhansi, he who dares may try"

"मेरी झाँसी को कोई नहीं ले सकता जिसमें साहस है वह करके देख ले" "I shall not give! I shall not give up my Jhansi"

सावरकर का इति0 पृ0 ३७६ से ३८५- मैं अपनी झाँसी को कदापि नहीं छोड़ूँगी।" दीनबन्धु जी ने इन ही इतिहासों की बातों को पढ़कर लक्ष्मीबाई से सन् १८५८ में कही हुई बातों को सन् १८५५ में कल्पित दयानन्द के सामने कहलवा दिया जो सरासर झूठ और धोखा है। इससे यह सिद्ध हो गया कि लक्ष्मीबाई का सन् १८५५ में स्वामी दयानन्द से कोई सम्पर्क नहीं हुआ।

अब हम यह बतलाते हैं कि दीनबन्धु जी ने यह झूठ कहां से चुराया। दीनबन्धु जी अंग्रेजी के विद्वान तो हैं ही उन्होंने अंग्रेजी इतिहास पुस्तकों को पढ़ा। दीनबन्धु जी ने पहले 'विन्सेन्टस्मिथ' के अंग्रेजी इतिहास The Oxford History of India को पढ़ा और उसमें उन्होंने पढ़ा-

"At the begining of June 1857 the native troops had mutinfied at Jhansi. On the 7th of that month they committed a perfidious massacre of the Europen men, women and children, comparable in wickedness with the slaughter at Cannpure, but on the smaller scale.

Three days later "Rani Lakshmi Bai young woman twenty year of age, principal widow of the late Raja Gangadhar Rai," was proclaimed ruler of the state which "Lord Dalhousie had annexed as"

A lapse the Rani was "supported by Ganga Bai, another consort of the deceased" Prince It is uncertain whether or not Lakshmi Bai was party to the massacre which preceded her assumption of authority.

When she had been installed, she certainly proved "herself to be a resolute and bitter enemy of the British Government, earning from 'Hugh Rose the compliment" that she was the 'best and bravest' of the rebel leaders, She showed courage far superior to that of Tatia Tope the Nana's general, with whom she cooperated.

She was left undisturbed untill 1858, when Sir Hugh Rose advanced to attack her' (The Oxford history of India P. 720-21)

अर्थात् जून सन् १८५७ के आरम्भ में ही देशी सेना ने झाँसी में विद्रोह कर दिया। उस ही मास की ७वीं तारीख को उन्होंने विश्वासघात करके यूरोपीय पुरूषों, स्त्रियों और बच्चों का कत्लेआम कर दिया।

निर्दयता की दृष्टि से यह कतलेआम कानपुर के समान ही था, परन्तु उससे थोड़ी मात्रा में। तीन दिन के पश्चात् रानी लक्ष्मीबाई को जो २० वर्ष की युवती थी और स्वर्गवासी राजा गंगाधर राव की मुख्य विधवा थी, उस राज्य का शासक घोषित कर दिया जिसको लार्ड डलहौजी ने लावारिस होने के कारण अंग्रेजी राज्य में मिला लिया था।

रानी गंगाबाई ने जो मृत राजा की दूसरी पत्नी थी उसका (लक्ष्मीबाई का) समर्थन किया यह बात अनिश्चित है कि लक्ष्मीबाई उस

कत्लेआम के सलाह मशवरे में सम्मिलित थी या नहीं जो उसके अधिकार की घोषणा से पूर्व हो चुका था?

जब वह सिंहासन पर बैठ गई उसने अवश्य अपने आपको अंग्रेजी राज्य का दृढ और कट्टर शत्रु सिद्ध किया।

ह्यूरोज से उसने यह प्रशंसा प्राप्त की कि वह क्रान्तिकारी नेताओं में सबसे श्रेष्ठ और सबसे अधिक बहादुर थी। उसने नाना साहब के जनरल तात्या टोपे से भी बहुत बढ़कर साहस और वीरता दिखाई जिसको उसने सहयोग दिया था उसको सन् १८५८ तक स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था। फिर ह्यूरोज ने उस पर आक्रमण किया।''

मैंने विन्सेन्ट लिखित अंग्रेजी इतिहास के इस सन्दर्भ को इसलिये उद्धृत किया है कि योगी जी ने अपने 'अनुसन्धान, के पृष्ठ १२२ पर इस ही लेख का अंश उद्धृत किया है अतः पाठकों को दोनों लेखों को मिलाकर देखने से यह अच्छी तरह पता चल जायेगा कि दीनबन्धु जी ने रानी गंगाबाई को रानी लक्ष्मीबाई की सपत्नी होने का विचार कहां से चुराया और सच्चिदानन्द जी ने इस चोरी को छुपाने का किस प्रकार से असफल प्रयत्न किया।

साथ ही योगी जी की अंग्रेज़ीदानी का पता भी लग जायेगा। विन्सेन्ट के उपर्युक्त लेख में केवल एक बात ही ऐसी है जिसकी सम्पुष्टि और कोई इतिहास नहीं करता, और वह यह है कि

''राजा गंगाधर राव के मरने के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी रानी लक्ष्मीबाई के अतिरिक्त दूसरी विधवा पत्नी रानी गंगाबाई भी थी।'' दूसरा प्रमाण न मिलने के कारण विन्सेन्ट का उपर्युक्त लेख गलत है। परन्तु उसका शेष भाग सभी इतिहासकारों द्वारा समर्थित होने से सर्वथा सत्य है। परन्तु दीन बन्धु जी की मनोवृत्ति देखिये! कि उनको विन्सेन्ट का यह झूठा लेख ही पसन्द आया और इसीलिए उनको अपनी पुस्तक में लिख दिया कि

"रानी लक्ष्मीबाई की सहचरी (सपत्नी) रानी गंगाबाई भी हरिद्वार में गई थी।

विन्सेन्ट ने यदि एक झूठ लिखा था तो दीनबन्धु जी ने उससे दो गुणा लिख मारा। यानी रानी गंगाबाई का झाँसी में लक्ष्मी के साथ होना, तथा रानी लक्ष्मीबाई के साथ हरिद्वार में जाना' जिसका समर्थन कोई भी इतिहासकार नहीं करता।

पहले पहल जब यह लेख सार्वदेशिक पत्र में छपा तो पं० भवानीलाल भारतीय ने इस लेख की आलोचना की और कहा कि 'राजा गंगाधर राव की मृत्यु के पश्चात् उसकी केवल एक विधवा पत्नी लक्ष्मीबाई ही थी दूसरी कोई नहीं थी।

और कि गंगाबाई तो नाना साहब की माता थी, तो बड़े गुरु जी तथाकथित महामहिम योगी जी आगे आये और इस झूठ को दस गुणा बनाने के लिये लिखमारा-

"नाना साहब जैसे भारत सपूत को जन्म देने का पुण्य एवं श्रेय गंगाबाई देवी को है। गंगाबाई सुशीला नितांत सादगी पूर्ण जीवन बिताने वाली महिला थी। नाना साहब को माधवराव ने गोद ले लिया। पीछे नाना साहब का महल भारत की समर भूमि ही बन गया था।

गंगाबाई भी रणबाँकुरी नाना की छबीली भगिनी लक्ष्मीबाई के साथ ही रहती थी। जब रानी लक्ष्मीबाई ने २०० वीरांगनाओं की वीर वाहिनी संजोई तो गंगाबाई उसमें भी महारानी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाये रण में जूझ रही थी।

रानी लक्ष्मीबाई के साथ इसके स्नेह सम्बन्ध को समझने में इतिहासकार धोखा खाते रहे। वास्तविकता का प्रकाश तो वीर सावरकर ने 1857 का स्वातन्त्र्य समर में किया है। ऋषि ने स्वकथित अज्ञात जीवनी में इन्हें 'सहचरी' नाम से उल्लिखित कराया। सहचरी, माता, भगिनी, दासी, संरक्षिका हो सकती है।

कोष को देखकर बंगाली में सहचरी का अनुवाद निहायत भद्दा सपत्नी कर दिया। धोखा इसलिये भी हुआ कि इतिहासकारों ने भी बिना खोज किये लिख मारा–

The Rani was supported by Ganga Bai another Consort of the deceased prince, she showed courage for superior to that of Tatia Tope the Nana's general with him she cooperated Exford history of India by Vincent Smith.[1]

विन्सेन्ट ने लिख मारा Consort. अर्थात सम्बन्धित अस्पष्ट इसे यह भी नहीं पता कि नाना के जनरल तात्या को सहयोग देने वाली नाना की माता ही थी। क्या इन इतिहासों के आधार पर अज्ञात जीवनी के तथ्य परखे जा सकते हैं।

(योगी का आत्मचरित्र – अनुसन्धान पृ० १२२)

तथाकथित योगी जी के अनुसन्धान में से इतना लम्बा सन्दर्भ देने का अभिप्राय यह है कि उसके झूठों का पुलिन्दा एक साथ ही पाठकों के सामने आ जावे और विन्सेन्ट के उपरिलिखित अंग्रेजी लेख के प्रकाश में उसकी धोखाधड़ी का पता चल जावे। पहला झूठ तो सच्चिदानन्द ने यह लिखा कि "नाना साहब को माधवराव ने गोद लिया था"

सच्चिदानन्द ने यह लिख कर इतिहास के सम्बन्ध में अपनी पूर्ण अनभिज्ञता का परिचय दे दिया। देखिये इतिहास क्या कहता है–

"That son of Madhavarao and Ganga Bai was no other than to Nana Sahib Peshwa .... On the 7th of June 1857 Bajirao formally placed him on his lap and adopted him." (सावरकर का अंग्रेजी इतिहास पृ0 २३)

1. यह अंग्रेजी सिद्ध योगी सच्चिदानन्द जी की है। – जिज्ञासु

"अर्थात माधवराव और गंगाबाई का वह पुत्र नाना साहब ही था। २७ जून १८२७ को बाजीराव ने उसको गोद ले लिया।" इससे पता चल गया कि नाना साहब को गोद लेने वाला बाजीराव पेशवा था न कि माधवराव। दूसरा झूठ उसका यह है कि उसने यह तो लिखा कि "वास्तविकता का प्रकाश तो वीर सावरकर ने ५७ का स्वातन्त्र्य समर में किया है।"

परन्तु उसने वीर सावरकर के इतिहास से कोई ऐसा उद्धरण नहीं दिया जिसमें गंगाबाई (नाना की माता) का लक्ष्मीबाई के साथ विशेष स्नेह सम्बन्ध और साहचर्य सिद्ध होता हो और यह भी कि लक्ष्मीबाई ने कभी 200 वीराँगनाओं की वीरवाहिनी तैयार की हो और गंगाबाई भी लक्ष्मीबाई के साथ कन्धे से कन्धा मिलाये जूझ रही हो। बिना किसी प्रमाण के केवल सावरकर का प्रशंसात्मक वर्णन करके झूठ को छुपाया नहीं जा सकता। हम योगी जी को खुला चैलेंज देते हैं कि वे किसी भी **इतिहास से यह सिद्ध कर दें कि गंगाबाई नाम की कोई महिला लक्ष्मीबाई के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध में लड़ी थी?**

या उसने वीरांगनाओं की कोई वीरवाहिनी बनाई हो? जिस सावरकर के इतिहास को वास्तविकता का प्रकाश करने वाला लिखा है, उसमें रानी लक्ष्मीबाई के तीन युद्धों का वर्णन है-

१. मार्च सन् १८५८ में झाँसी के किले में, उनमें एक वर्णन में लिखा है- "Its women carried armaments, built Topkhanas, supplied provisions."

दूसरे किसी सेना का संकेत नहीं मिलता अर्थात झाँसी की स्त्रियां गोलाबारूद ढ़ो रही थी, तोपखाने को बनाती थीं और भोजन सामग्री इकट्ठी करती थी। (पृ० ३७६)।

२. कालपी के पास कून्च गाँव में सन् १८५८ से पृ० ३६४ से ४०० तक, इसमें स्त्रियों के भाग लेने का वर्णन नहीं।

३. ग्वालियर के किले में २८ मई से १८ जून सन् १८५८ तक। इसमें इस प्रकार से वर्णन है-

"Her two female friends, Mandar and Kashi, also fought bravely by her side. May the sweet memory of these two patriotic girls beautiful in appearance, with male attire donned on." (P. 398).

अर्थात् उसकी (लक्ष्मीबाई की) दो सहेलियाँ मन्दर और काशी भी उसके साथ साथ बड़ी बहादुरी के साथ लड़ीं। इन दोनों देशभक्त लड़कियों की मधुर स्मृति भी याद रहनी चाहिये, वे पुरुष के वेश में कितनी सुन्दर लगती थी!

सावरकर जी के इन उद्धरणों से दीनबन्धु जी और उनके वकील के छल कपट का पर्दा बिल्कुल फट चुका है। अब भी यदि योगी जी चिल्लाये- मैं न मानूं मैं न मानूं ! तो हम उन्हें और भी खेल दिखलाने के लिए तैयार हैं।

देखिये योगी जी क्या जादू करते हैं। "कोश को देखकर बंगला में सहचरी का अनुवाद निहायत भद्दा सपत्नी कर दिया। धोखा इसलिये भी हुआ कि इतिहासकारों ने भी बिना खोज किये लिख मारा।" इसी को कहते हैं- जादू वह जो सर चढ़कर बोले। अपने झूठ को आप ही खोले।' हां तो इतिहासकारों ने बिना खोज के क्या लिख मारा। योगी जो कहते हैं-

"The Rani was supported by Ganga Bai another consort of the deseased prince"

अर्थात् मृत राजा की दूसरी पत्नी गंगाबाई ने रानी (लक्ष्मीबाई) का समर्थन किया।" इसी को तो हम जादू कहते हैं। सजग पाठक दीनबन्धु जी की लिखी हुई 'अज्ञात जीवनी' को पढ़कर यही अनुमान कर रहे थे कि यह 'अज्ञात जीवनी' ऋषि दयानन्द की कही हुई नहीं है।

अपितु यह तो दीनबन्धु जी का षड्यन्त्र है और उसने अंग्रेजी इतिहासों को और अनेक यात्रियों के यात्रा वर्णनों को पढ़कर ये सब बातें ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ दी है। सो दीनबन्धु जी के वकील ने इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया कि 'गंगाबाई को लक्ष्मीबाई की सपत्नी लिखने का कारण विन्सेन्ट के इतिहास में गंगाबाई को गंगाधर राव की consort लिखना है।' नहीं तो क्या कारण था कि ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवनी का बंगला से हिन्दी में अनुवाद करने के लिये अंग्रेजी इतिहासों को टटोला गया?

सहचरी शब्द ऐसा नहीं है कि उसका अनुवाद करने के लिये बहुत से कोषों और इतिहासों को देखने की आवश्यकता पड़े। 'सहचरी' संस्कृत का शब्द है और हिन्दी में भी प्रचलित है। इसलिये वास्तविकता यही है कि ऋषि की यह जीवनी दीनबन्धु जी की गढ़ी हुई है। अब योगी जी की अंग्रेजी दानी ओर इतिहासज्ञता का थोड़ा सा नमूना भी देख लीजिये?

ऊपर मैंने योगी जी के लेख को उद्धृत किया है। अंग्रेजी लेख की चार पंक्तियों में आठ अशुद्धियां हैं जिनको छापे की गलती नहीं कहा जा सकता,

जैसे- 'far' के स्थान में 'for' 'Courage' के स्थान में Courage, whom के स्थान में 'him', Tope के स्थान में tope, she के स्थान पर She, cooperated के स्थान में Coprrated, Oxford के स्थान में exford।

आगे पाठकों पर अपनी अंग्रेजदानी और इतिहासज्ञता का रोब जमाने के लिये विन्सेन्ट की अनभिज्ञता को बतलाते हुये लिखते हैं- विन्सेन्ट ने लिख मारा consort अर्थात् सम्बन्धित। सर्वथा अस्पष्ट। इसे यह भी पता नहीं कि नाना के जनरल तात्या को सहयोग देने वाली नाना की माता ही थी इन इतिहासों के आधार पर अज्ञात जीवनी के तथ्य परखे जा सकते हैं?

मैंने विन्सेन्ट के उस सारे लेख को ऊपर उद्धृत कर दिया है जिससे एक अंश को लेकर योगी ने इसको अनभिज्ञ बतलाया है। पाठक इन दोनों लेखों को मिलाकर देखेंगे तो वे स्वयं कहेंगे कि योगी जी 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' वाली बात करते हैं। विन्सेन्ट में न तो consort का अर्थ 'सम्बन्धित किया है और न उसने कोई बात अस्पष्ट कही है। उसने तो स्पष्ट कहा– ''मृत राजा की दूसरी पत्नी गंगाबाई ने रानी का समर्थन किया'' 'another' शब्द ही इस बात को बतला रहा है कि राजा की एक पत्नी रानी लक्ष्मीबाई थी और दूसरी रानी गंगाबाई यदि consort का अर्थ सम्बन्धित माना जाएगा तो रानी भी राजा की सम्बन्धित ही मानी जायेगी, जो सर्वथा झूठ है। अतः यहां विन्सेन्ट का अस्पष्ट नहीं, यहाँ तो योगी जी के मष्तिष्क में झूठ का भूत बैठा हुआ इसको अस्पष्ट समझ रहा है।

यद्यपि ऐतिहासिक प्रमाणों से विन्सेन्ट का यह कहना गलत सिद्ध होता है कि राजा गंगाधरराव की मृत्यु के पश्चात् लक्ष्मीबाई के अतिरिक्त उसकी कोई और पत्नी भी जीवित थी,

परन्तु उसके शब्दार्थों में कोई अस्पष्ट नहीं और दीनबन्धु जी विन्सेन्ट के उस झूठ को भी सत्य सिद्ध करने के लिये रानी गंगाबाई को लक्ष्मीबाई के साथ हरिद्वार भेज दिया और स्वयं लक्ष्मीबाई के मुख से स्वामी जी के सामने परिचय देते हुए उसको 'रानी गंगाबाई कहलावा। 'रानी' नाम भी तो किसी राजा की पत्नी का या स्वयं राज्य करने वाली स्त्री का होता है नाना साहब की माता न तो किसी राजा की पत्नी थी और न वह स्वयं राज्य करने वाली स्त्री थी। इसलिये योगी जी की सारी कल्पनाएं निर्मूल हैं, योगी जी विन्सेन्ट के लेख में से एक शब्द को भी नहीं समझ सके और उल्टा उन पर धोंस जमाते हैं। ''इसे यह भी पता नहीं कि नाना के जनरल तात्या को सहयोग देने वाली नाना की माता थी।'' भला इसमें विन्सेन्ट का क्या दोष है? संसार का कोई इतिहास और इतिहासज्ञ यह नहीं जानता कि नाना साहब की माता ने युद्ध क्षेत्र में तात्या

टोपे को सहयोग दिया था। और वह बूढ़ी स्त्री सहयोग दे भी कैसे सकती थी?

सब इतिहास बतला रहे हैं कि टोपे के साथ युद्ध में नाना साहब की माता गंगाबाई या कोई भी गंगाबाई नाम की स्त्री नहीं गई। योगी जी अपनी नासमझी के कारण विन्सेन्ट के लेख से यह समझ बैठे कि मृत राजा की पत्नी गंगाबाई ने तात्या टोपे का साथ दिया था। परन्तु विन्सेन्ट के लेख में इसका संकेत तक भी नहीं।

विन्सेन्ट के लेख में दो प्रकरण हैं। १- यह कि ७ जून को देश भक्त सैनिकों ने झाँसी में विद्रोह करके झाँसी के किले पर अधिकार कर लिया और रानी लक्ष्मीबाई को वहाँ का शासक घोषित कर दिया और गंगाबाई ने जो मृत राजा की दूसरी पत्नी थी उसका समर्थन या सहयोग दिया 2- लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध में 'सरह्यू रोज की सम्मति जिसमें ह्यू रोज ने कहा था, कि ''सब क्रान्तिकारी नेताओं में लक्ष्मीबाई सबसे बढ़िया और सबसे बहादुर थी। और नाना साहब के जनरल तात्या टोपे से भी जिसके साथ वह मिल गई थी साहस और बहादुरी में बहुत आगे बढ़ी हुई थी।''

योगी जी ने 'लक्ष्मीबाई' के सहयोग को 'गंगाबाई' का सहयोग समझ लिया। इसलिये, विन्सेन्ट पर कही गई काकोक्ति योगी जी पर ही घटती है कि क्या इसी प्रकार की योग्यता पर झूठ को सत्य सिद्ध किया जा सकता है?

इन उद्धरणों और प्रमाणों से सर्वथा सिद्ध हो गया कि रानी लक्ष्मीबाई का १८५५ में कुम्भ के मेले में स्वामी दयानन्द से मिलना एक मनघड़न्त कहानी है। न्याय शास्त्र में कहा है:- ''आप्तोपदेश शब्द:''। आप्तपुरुषों का उपदेश ही शब्द प्रमाण की कोटि में आता है। झूठों का नहीं। अब हम यह सिद्ध करेंगे कि बाबू कुंवर सिंह भी हरिद्वार ऋषिदयानन्द से नहीं मिले थे?

कुंवर सिंह का ऋषि से मिलाप मनघड़न्त

दीनबन्धु जी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६४ पर लिखा है कि श्री कुंवर सिंह जी ऋषि दयानन्द से मिले थे और प्रश्न किये थे उसने कहा – "आप से पूछता हूं, हमारा यह प्रजा जनजागरण या गणयुद्ध सफल होगा या विफल होगा? दीनबन्धु जी का यह कहना सर्वथा झूठ है, क्योंकि उस समय अर्थात् सन १८५५ के प्रारम्भिक दिनों में किसी प्रकार का जनजागरण या गणयुद्ध की तैयारी नहीं थी और उन दिनों में स्वयं कुंवर सिंह के अन्दर अंग्रेजों के विरुद्ध कोई भावना भी नहीं दिखाई देती थी।

डा0 सेन ने लिखा है– "उस (टेलर उस समय जो पटना का कमिश्नर था) ने १४ जून सन् १८५७ को बंगाल सरकार के सचिव को लिखा कि कई लोगों ने अनेक ज़मीदारों और विशेषकर बाबू कुंवर सिंह की स्वामी भक्ति पर शक करते हुए पत्र लिखे हैं लेकिन मैं उसके साथ अपनी व्यक्तिगत मित्रता और मेरे लिये उसके दिल में जो स्नेह है उसके आधार पर कह सकता हूँ कि ये बातें गलत हैं।" (अठारह सौ सत्तावन पृ0 २६३)

ये शब्द एक अंग्रेज के हैं जो उस समय पटने का कमिश्नर था। इससे पता चलता है कि उस समय तक अर्थात जून सन् १८५७ तक यानी सन् १८५५ से सवा दो वर्ष पीछे तक कुंवर सिंह के अन्दर अंग्रेजों के प्रति विरोध भावना नहीं थी।

इसलिये यह कहना गलत हो जाता है कि सन् १८५५ में वह स्वामी जी के सामने गणयुद्ध की बातें कर रहा था।

वीर सावरकर ने लिखा है After Dalhousie swallowed the the kingdom of Oudh, the English went about throughout Hindustan, digging up and demolising all raised place in order to raze them all to the ground. It was in that compaign the Kunwar Singh's Country also fell

a victim. Kunwar Singh swore that he would shoulder to pieces the English sword which had ruined his country and Swaraj in this inexcusable, cruel and unjust manner. And he began at once communications with Nana Sahib' (P. 273) वीर सावरकर ने लिखा है- ''अवध के राज्य को जब डलहौजी ने हड़प लिया, उसके पश्चात् अंग्रेज सारे भारत में घुसे ताकि सब ऊँचे स्थानों को खोद डाला जावे ओर उन्हें नष्ट भ्रष्ट करके भूमिसात कर दिया जावे। उस कार्यक्रम में कुंवर सिंह की भूमि भी बलि चढ़ने वाली थी। कुमार सिंह ने प्रतिज्ञा की कि अंग्रेजों की उस तलवार को टुकड़े टुकड़े कर देगा, जिसने उसके देश और स्वराज्य को अक्षम्य, क्रूर और अन्यायपूर्ण नीति से नष्ट कर डाला है।'' और उसने तुरन्त ही नाना साहब से पत्र व्यवहार आदि द्वारा अपना मेल जोल और सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर दिया।''

इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि अवध के अंग्रेज़ी राज्य में मिलाये जाने से पहले नाना साहब के साथ कुंवर सिंह का कोई मेलजोल या सम्बन्ध नहीं था। अवध अंग्रेजी राज्य में कब मिला?

"Annexation of Outh 1856" (V. A. Smith की हिस्ट्री पृ0 ७०६) सन् १८५६ में अवध का राज्य अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि सन् १८५५ में नाना साहब का और कुंवर सिंह का आपस में मेल जोल नहीं हुआ। अत: दीनबन्धु जी की दोनों बातें झूठ निकलीं। और भी किसी इतिहास से सिद्ध नहीं होता कि कुंवर सिंह कभी हरिद्वार गया! नाना साहब और कुंवर सिंह का साक्षात मेल तो जुलाई सन् १८५७ में कानपुर की लड़ाई में हुआ-

In the camp of Tatia Nana Sahib and Kunwar Singh had also arrived सावरकर का पृ0 ३४३'' अर्थात् तात्या के कैम्प में नाना साहब और कुंवर सिंह भी पहुंच गये।'' इस साक्षात्कार के अतिरिक्त नाना साहब और कुंवर सिंह का एक जगह एकत्र होना सिद्ध नहीं होता। बाला साहब अजीमुल्ला खाँ और तात्या टोपे कभी हरिद्वार नहीं गये।

पूर्ण अनुसन्धान के आधार पर कहा जा सकता है कि नाना साहब आदि १८५५ ई० में न तो हरिद्वार गये और न ही वे ऋषि दयानन्द से मिले। कोई भी इतिहास सन् १८५६ से पूर्व नाना की बिठूर और कानपुर से बाहर जाने की पुष्टि नहीं करता।

डा० सेन ने अपने इतिहास में लिखा है– "बाजीराव तो बनारस, प्रयाग और गया की यात्रा करके अपने नियन्त्रित एवं निर्वासित जीवन की नीरसता को दूर कर लेते थे, यद्यपि उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखी जाती थी।

किन्तु वातावरण में परिवर्तन आने से कुछ न कुछ मन अवश्य बदल जाता है 'नाना के पास दिल बहलाने के लिये तेज से तेज घोड़े ... तथा भारत के सभी प्रकार के जानवर थे।

लेकिन यह सब होते हुए भी उन्हें सक्रिय मनोरंजन की आवश्यकता अनुभव होती थी। सन् १८५६ के अन्त में वे सैर के लिये लखनऊ गये। कैवेन उन्हें वहां मिले और रसेल ने लिखा है कि नाना साहब यात्रा के बहाने ग्राण्डट्रंक रोड पर सभी सैनिक केन्द्रों को देखने गये, यहां तक कि वे शिमला जाने का विचार कर रहे थे नाना साहब के दल में अजीमुल्ला खाँ भी था।

एक हिन्दू यात्री के साथ एक और बड़ी अजीब बात थी ।रसेल ने एंग्लोइंडियन अधिकारियों के विवेक और बुद्धिमत्ता की आलोचना की है जिसकी अनुमति के बिना नाना अपने महल से तीन मींल दूर भी नहीं जा सकते थे।

और भारत में आने वाला नया आदमी भी जानता था कि कालपी और लखनऊ हिन्दुओं के तीर्थ स्थान नहीं हैं।" (अठारह सौ सत्तावन पृ० १३२) इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया कि नाना साहब की गति-विधियों पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी और वह पहले पहल सन् १८५६

में तीर्थ यात्रा के बहाने बाहर निकला था।

इसलिये सन् १८५५ में नाना साहब का अपनी पार्टी के साथ हरिद्वार जाना और ऋषि दयानन्द से क्रान्ति युद्ध के लिये विचार विनिमय करना सर्वथा गलत है।

वीर सावरकर के इतिहास में भी डा0 सेन के इतिहास की सम्पुष्ठि होती है-

"So Nana Sahib came out from the palace of Brahmavarts to link together in to one chain the various link–the nucler of organisation.

With him started his brother, Bala Sahib, and his animal and witty counssellon Azimullah. And why did they start? "For a pilgrimage! Indeed! A Brahmin and a Muslim are starting together arm in arm to visit the holy religious place ... This was in the March 1857 most essential was it now to visit at last once the places of Pilgrimage and the first was Delhi .... Nana went to Ambala on the 18th of April, he reached Lucknow ... Nana went to kalpi"

अर्थात् संघटन की भिन्न भिन्न कड़ियों को संघटन की एक जंजीर में बान्धने के लिये नाना साहब ब्रह्मावर्त्त के महल से बाहर निकला। उसके साथ उसका भाई बालासाहब, उसका सलाहकार और प्यारा मसखरा मित्र अजीमुल्ला खाँ चले।

वे क्यों चले? एक तीर्थयात्रा के लिये! नि:सन्देह एक ब्राह्मण और एक मुसलमान इकट्ठे चले कन्धे से कन्धा मिलाकर .... यह यात्रा मार्च सन् १८५७ में हुई।

नि:सन्देश अब यह यात्रा अत्यन्त आवश्यक हो गई थी। कि कम से कम एक बार तो इन तीर्थ स्थानों के दर्शन किये जावें पहला तीर्थ स्थान देहली का दीवान खास ..... दूसरा अम्बाला ..... १८ अप्रैल लखनऊ ..... फिर कालपी'' इस संदर्भ से भी पता चलता है कि नाना

साहब और उनकी पार्टी ने सन् १८५७ के मार्च मास में यात्रा आरम्भ की, इससे नाना साहब की पार्टी का हरिद्वार में मिलना सर्वथा मनघड़न्त है।

जब वे सन् १८५६ के अन्तिम महीनों से पहले किसी यात्रा पर गये ही नहीं तो १८५५ में हरिद्वार कैसे जा सकते हैं?

पिछले लेख में प्रामाणिक इतिहासों के प्रमाणों से मैंने भलीभान्ति यह सिद्ध कर दिया था कि सन् १८५५ के कुम्भ मेले में १८५७ की क्रान्ति के नेताओं का ऋषि दयानन्द से कोई सम्पर्क नहीं हुआ।

अत: दीनबन्धु जी की पुस्तक में लिखा हुआ वह सारा प्रकरण मनघड़न्त है। जिसमें ऋषि दयानन्द और उन नेताओं के परस्पर प्रश्नोत्तरों का वर्णन है। परन्तु दीनबन्धु जी के वकील सच्चिदानन्द जी का यह विश्वास दिखाई देता है कि सत्य की चिंगारी को छोटे से झूठसे नहीं दबाना चाहिये, उसको छुपाने के लिये तो झूठों का ढ़ेर लगा देना चाहिये। परन्तु उनको याद रखना चाहिये कि सत्य के अन्दर इतनी अपरिमित शक्ति होती है कि उसकी तिलमात्र चिंगारी भी झूठ के पहाड़ जितने ढ़ेर को भी भस्मसात करने में समर्थ होती है। योगी जी दीनबन्धु जी की पुष्टि में कहते हैं:-

"ऋषि से स्वातन्त्र्य संग्राम के सूत्रधार नाना परिवार का मिलना:-

यही सब नाना परिवार के सदस्य थे- नाना की मुंहबोली बहन लक्ष्मीबाई, नाना जी की माता गंगाबाई, भाई बालासाहब। फिर मन्त्री अजीमुल्ला खाँ, तात्याटोपे, वीरकुंअर सिंह, महाराज श्री के सं0 १९१२ सन् १८५५ कुम्भ मेले पर चण्डी के पहाड़ पर दर्शन कर चुके थे। और संग्राम का आशीर्वाद लेकर आये थे।

मंगलपाण्डे भी जो स्वातन्त्र्य संग्राम का श्रीगणेश करने वाला था, ने महाराज श्री के दर्शन और आशीर्वाद लाभ किया था।

कानपुर में स्वयं महाराज श्री अपने आशीर्वाद और स्वातन्त्र्य संग्राम के स्वप्रज्वलित विस्फोट को विस्फोट के केन्द्र में पहुँचकर देख रहे थे।''

(यो0 आ0 च0 ११३) परन्तु योगी जी! यह तो आपकी मनः कल्पना है। इसके लिये प्रमाण चाहिये? लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धर्नतु प्रतप्रतिज्ञामात्रेण दार्शनिक होने को डींग मारने वाले योगी जी! यह तो पढ़ा ही होगा– ''प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'' अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है। बिना किसी प्रमाण के अपने कल्पित पक्ष की बार–बार रट लगाना तो अन्याय अर्थात् मूर्खता मात्र ही है।

न्यायशास्त्र चार प्रमाण मानता है: ''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणित'' बतलाइये इनमें से कौन से प्रमाण से आपने अपने पक्ष सिद्ध किया है? या धींगा मुश्ती से ही 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' वाली बात करते हैं?

योगी जी ने सीधे साधे पाठकों को धोखा देने के लिये अपने लेख में कहा है कि 'दीनबन्धु जी की लिखी हुई अज्ञात जीवनी ही सच्ची जीवनी है, क्योंकि ऋषि जी ने स्वयं बंगालियों को यह जीवनी लिखाई थी, इसलिये यह जीवनी आप्तोपदेश होने से शब्द प्रमाण की कोटि में आती है।

परन्तु यह तो योगी जी का साध्यसम हेत्वाभास है। साध्यसम क्या होता है? ''साध्यविशिष्ठः साध्यत्वात् साध्यसमः'' अर्थात् जो बात साध्य है (जो अभी तक सिद्ध नहीं हुई और जिसको आगे सिद्ध करना है) उस असिद्ध बात को अपने पक्ष की सिद्धि में हेतुरूप से देना हेत्वाभास कहा जाता है। इसलिये वह हेतु झूठा समझा जाता है। और ऐसे हेत्वाभास का कहने वाला भी झूठा समझा जाता है ऐसा जल्प और वितण्डा में गिना जाता है।

गौतम मुनि ने अपने न्यायदर्शन में लिखा है:- "यतोक्तोप्पन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प:" अर्थात् छल जाति (हेत्वाभास भी जाति में गिना जाता है) और निग्रह स्थान के द्वारा अपने पक्ष को सिद्ध करना जल्प (बकवास) कहा जाता है।

और वही जल्प- "स प्रतिपक्षस्थापना हीनो वितण्डा" प्रतिपक्ष स्थापना हीन वितण्डा हो जाता है। जैसा कि मैं पहले लेखों में सिद्ध कर चुका हूँ कि योगी जी गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं। किसी एक सिद्धान्त पर जमे नहीं रहते। इसलिये इनकी सम्पूर्ण पुस्तक आदि से अन्त तक हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थानों से परिपूर्ण है।

अत: यह विश्वास के योग्य नहीं। ऋषि से मिलने वाले व्यक्तियों में योगी जी ने नाना साहब की माता गंगाबाई का नाम भी लिया है, परन्तु हम डंके की चोट पर कहते हैं कि सन् १८५५ के कुम्भ के मेले से २० वर्ष पहले तक भी नाना की माता गंगाबाई का कहीं नाम निशान भी नहीं था।

इसलिये लक्ष्मीबाई के साथ या नाना के साथ गंगाबाई का हरिद्वार कुम्भ पर ऋषि के दर्शन करना सर्वथा झूठ है।

हम 'योगी का आत्मचरित्र' के समर्थक सब विद्वान महानुभावों को सप्रेम चुनौती देते हैं कि वे सब मिलकर भी प्रामाणिक इतिहासों के आधार पर नानासाहब की माता गंगाबाई के अस्तित्व को सन् १८५५ तक सिद्ध नहीं कर सकते।

हमने भी अनेक प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों को बड़ी सावधानी से पढ़ा है परन्तु हमें सन् १८२४ के बाद गंगाबाई का कहीं नाम भी नहीं मिला।

वीर सावरकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सन् १८५७ का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में लिखा है:-

"Madhawarao and his noble wife Ganga Bai, though living in Circumstances of domestic poverty, were happy in the enjoyment of mutual love.

In the small house of this good family all faces beamed with joy and happiness in 1824 for the good.

Ganga Bai had given birth to a son; that son of Madhawrao and Ganga Bai was no other than Nana Sahib Peshwa." (P. 23)

अर्थात् माधवराव और उसकी सुशील पत्नी गंगाबाई यद्यपि गरीबी की अवस्था में रहे थे परन्तु वे परस्पर प्रेम में बन्धे हुये अपने जीवन को बड़ी प्रसन्नता के साथ व्यतीत कर रहे थे, उस अच्छे परिवार के छोटे से घर में सन् १८२४ में सबके चेहरे प्रसन्नता और उल्लास से चमक उठे, क्योंकि माधवराव और गंगाबाई ने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम नानासाहब पेशवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ।'' सावरकर के इतिहास में गंगाबाई के सम्बन्ध में केवल इतनी ही पंक्तियां हैं। इन पंक्तियों के अतिरिक्त गंगाबाई का कोई वर्णन नहीं आता।

डा0 सुरेन्द्रनाथ सेन जो लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासकार हैं, उन्होंने तो अपने 'अठारह सौ सत्तावन' नामक इतिहास में गंगाबाई का नामोल्लेख तक नहीं किया।

१८ जुलाई सन् १८५७ को जब नानासाहब ने बिठूर को खाली कर दिया और अपना सारा खजाना लेकर गंगा पार चले गये उस समय भी बालासाहब, तात्याटोपे, राव साहब और राजघराने की महिलाओं का तो वर्णन है, परन्तु नाना साहब की माता का उल्लेख नहीं है।

(कोई अनभिज्ञ व्यक्ति यह न समझ ले कि राजघराने की महिलाओं में गंगाबाई भी होगी? क्योंकि नाना साहब बाजीराव का दत्तक पुत्र था।

दूसरे का दत्तक पुत्र हो जाने पर उसका पहले परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसके पश्चात् जब अप्रैल सन् १८५६ को नानासाहब, उसके साथी और सैनिकों को नेपाल में धकेल दिया तो उस समय भी नानासाहब की माता का नेपाल में जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

डा0 सेन ने लिखा है:- "पेशवा परिवार की महिलाओं-बाजीराव की दो विधवा पत्नियों, नाना की विधवा पत्नी और बाला की विधवा पत्नी इन सबको नेपाल में अपना अन्तिम जीवन बिताने की अनुमति दे दी गई" (देखो पृ0 ३८२)

इस सन्दर्भ में भी गंगाबाई का कोई जिक्र नहीं है। इसके अतिरिक्त 'अठारह सौ सत्तावन' के एक और दूसरे लेखक श्रीनिवास बाला जी हार्डीकर ने अपने इतिहास में पृ0 197 में लिखा है:- "नाना साहब के साथ उसके कुटुम्ब की स्त्रियां भी नेपाल में गई थीं। चालीस वर्ष तक वे वहाँ रहीं। राणाजंगबहादुर ने उनकी सहायता की। नाना साहब की बहन कुसुमावती उर्फ बयाबाई आप्टे भी नाना के साथ नेपाल में रही। उसकी मृत्यु सन् १९१७ में हुई। मृत्यु से पूर्व उसने नाना साहब की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासाचार्य राजवाड़े से जो बातें की, वे सबसे अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती हैं; उसी के शब्दों में:- नाना साहब नेपाल की ओर बढ़े। वहाँ उन्हें आश्रय देने के लिये कोई तैयार नहीं था। नेपाल की सीमा में जाते ही वहाँ का राजा उसे बाहर कर देता था।

अंग्रेजी राज्य में जाना तो कठिन ही था। अंग्रेजों का सुदर्शन चक्र रातदिन उन पर पहरा दे रहा था। नाना को रात दिन चैन नहीं था। १४ मास तक कभी इस सीमा में कभी उस सीमा में, इस प्रकार भागते ही रहना पड़ा।

सत्त्व से अत्यधिक श्रम और कष्टों के कारण नाना को ज्वर आने लगा, वह बिषमज्वर में परिणत हो गया। नाना साहब ज्वर में बेहोश पड़े थे, लेकिन इस पर भी नेपाल के राजा उनसे अपनी सीमा से बाहर जाने

का तकाजा करते ही रहे। तब लोगों ने हमको पास के गाँव में भेज दिया और नाना साहब को देवखोरी नामक गाँव के पास ले गये। वहीं उनका अन्त हुआ। वहीं लागों ने उनका दाहसंस्कार किया, और उनकी अस्थियां लेकर स्त्रियों के पास आये। नानासाहब की उत्तर क्रिया मेरे ही सामने हुई। उस समय मैं १२ वर्ष की थी'' नाना साहब के सम्बन्ध में इससे अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय साक्षी और नहीं हो सकती। डा0 सेन ने हार्डीकर के लेख के साथ मिलता जुलता लेख इस प्रकार दिया है:- ''कुसुमबाई कि जिसका नाम वयाबाई भी था की शादी ग्वालियर के सरदार बाबा साहब आप्टे से हुई थी ..... वह और उसकी दोनों सौतेली माताएं उसके भाई के साथ नेपाल चली गई थीं। और जब पूरी तरह शान्ति हो गई तो वह अपने पति के साथ आ गई।'' (अठारह सौ सत्तावन पृ0 १६७)

इन उद्धरणों से कई बातें स्पष्ट हो गई- (१) नानासाहब की माता का सन् 1824 के बाद कहीं पता नहीं चलता न कानपुर में, न नेपाल में और न झाँसी के महलों में न कहीं आकाश में और न पाताल में! ऐसी अवस्था में यदि कोई कहता है कि मैंने गंगाबाई को सन् १८५५ में हरिद्वार के कुम्भ के अवसर पर देखा है तो उस व्यक्ति के मस्तिष्क में अवश्य बड़ा भारी विकार है। दीनबन्धु जी और योगी जी तो बच जायेंगे परन्तु कल्पित दयानन्द को इसका शिकार अवश्य बना देंगे!

(२) नाना साहब की मृत्यु निश्चित रूप से अक्तूबर सन् १८५६ में हो गई थी। योगी जी तो इस सूर्य के समान स्पष्ट चमकती हुई सच्चाई को स्वीकार करेंगे नहीं, उन्हें इस बात से क्या लाभ है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग करने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये? उन्हें तो इसे मानने में घाटा है! यदि वे इस सत्य को स्वीकार कर लें तो उनकी झूठी पुस्तक को ₹15/- में कौन खरीदेगा?

क्योंकि उन्होंने तो अपनी पुस्तक में यह लिख दिया था कि नाना

जी तो नेपाल से आकर मौरवी और टंकारा में रहने लगे थे। और उन दोनों स्थानों में उनकी छतरी और समाधि है और वे १२८ वर्ष के होकर सन् १९५१ में मरे।

योगी जी को 'डूबते को तिनके का सहारा' मिल गया। वीर सावरकर के इतिहास से! आप लिखते हैं। "नेपाल से नाना साहब ने एक पत्र अंग्रेजों को लिखा था:-

What right have you to occupy India and declare me out-law" तुम्हारा क्या अधिकार है कि भारत पर अधिकार करने व मुझे अपराधी घोषित करने का? इस पत्र के पश्चात क्या हुआ, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है" (यो0 आ0 च0 पृ0 ११५) (यहां जरा पाठक योगी जी की अंग्रेजी दानी का नमूना भी देखते चलें। अर्थ होना चाहिये- तुम्हें भारत पर कब्जा करने और मुझे अपराधी घोषित करने का क्या अधिकार है? परन्तु योगी जी ने अस्पष्ट अर्थ कर दिया।)

अर्थ यह किया तुम्हारा क्या अधिकार है

कि भारत पर अधिकार का मुझे अपराधी घोषित करने का" 'इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है' पर योगी जी ने अपना काल्पनिक भव्य भवन खड़ा किया है जिसकी वास्तविकता को कोई बुद्धिमान स्वीकार नहीं कर सकता। यद्यपि सावरकर जी ने अपने इतिहास में अवश्य लिखा है "कि इस पत्र के पश्चात क्या हुआ, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है।" परन्तु सावरकर जी का इतिहास सन् १९०९ में छप चुका था, उस समय तक कोई ऐतिहासिक तथ्य सामने नहीं आया था।

अत: एक सच्चे ऐतिहासिक होने के कारण उनका यह कहना ठीक ही था; परन्तु कुसुमवती का बयान तो सावरकर के लेख से आठ वर्ष बाद अर्थात् सन् १९१७ में हुआ था।

इसकी पुष्टि शेयर के बयान से भी होती है, जो क्रान्ति के दिनों

में कानपुर- में मौजद था उसने लिखा था:- "इस वर्ष (१८५६) जाड़ों में नाना साहब की मृत्यु हई, क्योंकि उसी समय उसके आश्रित अनेक लोग नेपाल से अयोध्या होते हुये आये।" उसी समय ज्वालाप्रसाद (जो नाना की सेना में ब्रिगेडियर था) भी पकड़ा गया था, उसने अपने बयान में कहा- "नाना साहब की मृत्यु के समय मैं उपस्थित नहीं था, पर दाह कर्म मेरे सामने हुआ।" इन दोनों गवाहों से अधिक विश्वसनीय और कौन गवाह हो सकता है? एक नाना साहब की अपनी सगी बहिन कुसुमावती और दूसरा नाना साहब का सर्वाधिक विश्वास पात्र उनका सेनापति ज्वालाप्रसाद। अत: इन दोनों अत्यन्त विश्वसनीय प्रमाणों के होते हुये किसी काल्पनिक कहानी पर विश्वास करना या किसी अखबार की कतरन को गीदड़ का परवाना समझ निरी बेसमझी या स्वार्थ भावना ही हो सकती है!

अब तक हमने यह सिद्ध किया है कि योगी जी के तथाकथित ऋषि सम्मेलन के समय नाना साहब की माता का जीवित रहना सिद्ध नहीं होता।

अत: सन् १८५५ में हरिद्वार में उनका जाना सिद्ध नहीं हो सकता अत: यागी जाी का कहना झूठ है। दूसरे व्यक्ति जिनका हरिद्वार में जाना लिखा है वह नाना साहब के छोटे भाई बाला साहब थे। यद्यपि योगी जी ने बाला साहब के हरिद्वार जाने का कोई प्रमाण तो नहीं दिया, परन्तु अन्ध -विश्वासी पाठकों की सन्तुष्टि के लिये बालासाहब की वीरता और शौर्य का पुल बान्धा है।

वे लिखते हैं:- बाला साहब बड़े भाई नाना साहब का वैसे ही अनुकरण करते जैसे लक्ष्मण भगवान् राम का अनुसरण छाया की तरह करते थे। गंगा में प्रतिज्ञा लेने के समय भी साथ थे .... इनका युद्ध कौशल और वीरता से मृत्यु के साथ खेल ५७ की भारतीय स्वातन्त्र्य समर में पढ़ने की एक मात्र निधि है। हम 'एक मात्र निधि' को भी इतिहास से निकाल

कर रखते हैं-

"About the same time Havelock was pushing forward after defeating the army sent by Nana Sahib at Pandu nadi. Commander Bala Sahib was hit by a bullet in the shoulder in a skirmish and returned to Kanpur" p. 253.

अर्थात् ''लगभग उसी समय हैवालक उस सेना को हराकर आगे बढ़ रहा था जिसको नाना साहब ने पाण्डू नदी किनारे भेजा था। कमाण्डर बाला साहब को एक छोटी सी मुठभेड़ में कन्धे पर गोली लगी और वह कानपुर को लौट आया, इस लड़ाई में **बाला साहब की इस बात को वीरता कहिये या कुछ और? कि वह कन्धे पर गोली लगने से कानपुर को लौट आया,** इसके अतिरिक्त बाला साहब के सम्बन्ध में लड़ाई में एक शब्द भी नहीं।

दूसरी वीरता बाला जी की कालपी की है। जहाँ नाना साहब ने उसको अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था, परन्तु वहां भी बाला साहब ने तात्या टोपे को कमाण्डर बना दिया और स्वयं युद्ध भूमि में नहीं गया (शायद कमाण्डरी का मजा पहले चख लिया था) इसके अतिरिक्त आने जाने में उसका उल्लेख नानासाहब के साथ है **परन्तु किसी महत्वपूर्ण कार्य में उसका हाथ दिखाई नहीं देता।** परन्तु अपने भाई का अनुसरण करना और गंगा में घुसकर शपथ ग्रहण करना क्या था?

इसका पता उसके हाथ से लिखे हुए पत्र से चल जाता है जो उसने २५ अप्रैल सन् १६५६ को एच0 रोक्रापर, ब्रिगेडियर, समदेशक अधिकारी जिला गोरखपुर को लिखाः-

प्रेषक- बालासाहब - अंग्रेजों को दी गई पत्रिका का अनुवाद।

बाला साहब का अंग्रेजों को पत्र

मैं नाना का भाई हूँ, अंग्रेजों के समय से मैं उनके साथ रहा हूँ।

उसने मुझे अपने आदेशों के बिना कहीं जाने की अनुमति नहीं दी और यह धमकी दी कि यदि मैंने ऐसा न किया तो वह मुझे उत्तराधिकार से वंचित कर देगा इसलिये मैं उसके आधीन था और उसके पास जो जो अंग्रेज मिलने आते थे उनसे मैं किसी से परिचित नहीं था।

इसलिये मैं असहाय रहा। फिर भी मैं अपने सम्मान को बचाने का इच्छुक रहा और सबसे अलग रहा। किसी ने मेरे विरुद्ध शिकायत नहीं की है। यदि कोई ऐसी रूबकारी उपस्थित की जा सकी तो मैं दोषी हूंगा। जब सैनिकों ने कानपुर में विद्रोह किया तो वह मुझे धोखा देकर वहाँ ले आया और मेरी पत्नी को अपनी स्त्रियों में रख लिया। जहाँ वे अब तक साथ हैं।

जब सिपाहियों ने खजाना लेने के लिये अभियान किया तब मैंने अपनी असहायवस्था का अनुभव किया। क्योंकि मैं साहब लोगों में से किसी को नहीं जानता था।

सिपाहियों ने मुझे अपने पास से नहीं जाने दिया। मेरे भाई ने भी मुझे उससे अलग होने की आज्ञा नहीं दी। इसलिये मुझे आवश्यक रूप से अपने भाई के आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ा। **मैंने एक ६ वर्ष की बच्ची की जान बचाई है। जो फतहपुर के जज की पुत्री थी।**

मैंने उसे अपनी पत्नी के पास छुपा रखा। और मैंने उसको जनरल बद्री नरसिंह को भी दिखाया था। जब ग्वालियर का जियाजी सिन्धया बिठूर आया तो मैंने अपनी ओर से उससे याचना की, परन्तु उसने उत्तर दिया कि बिना गवर्नर या भाई की अनुमति के वह मुझे उससे अलग नहीं रख सकता।

इस प्रकार मैं बेबस बना रहा। मैं निरपराध हूं और जाँच से भी यही बात सिद्ध होगी। यदि आप उत्तर भेजें तो मैं आपके पास आऊं और हर बात आपसे कहूं। यह आपकी शक्ति में है कि आप जैसा चाहें मेरे

साथ व्यवहार करें।

आप जेल में बन्द कर सकते हैं या फाँसी पर लटका सकते हैं। जो कुछ भी हो मैं अपनी वर्तमान चिन्ताओं से मुक्त हो जाऊंगा। यदि आप मेरे साथ नहीं हैं तो दुनिया भी नहीं है।

जो कोई मरता है अकेला ही मरता है यही होता है। आपके उत्तर के साथ मैं कार्य करूंगा।

दिनाँक ८ वैसाख सम्वत् १६१६ अथवा २५ अप्रैल १८५६ (ह) एच0 रोक्राफ्ट ब्रिगेडियर (अठारह सौ सत्तावन पृ0 ४०६—४१०)

समादेशक अधिकारी जि0 गोरखपुर बाला साहब के जीवन का यह चित्र है जो प्रामाणिक इतिहासों और उसके लिखे हुए पत्र से प्रकट होता है। परन्तु इससे न तो बाला साहब का ऋषिदयानन्द के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध सिद्ध होता है, और न किसी ऐसी बात का परिचय मिलता है जिससे उसका अद्भुत युद्ध कौशल, मौत से खेल जाने वाली वीरता जो स्वातन्त्र्य समर में पढ़ने वाली एक मात्र निधि हो या उसका अपने बड़े भाई नाना साहब के प्रति 'लक्ष्मण की राम के प्रति भक्ति' जैसी भक्ति का परिचय मिलता हो।

इसके विपरीत अंग्रेज़ों को लिखे गये अपने पत्र में उसने जो भाव प्रकट किये हैं, ऐसे भाव तो कोई अत्यन्त नीच कोटि का भीरु पुरुष ही कर सकता है। पता नहीं योगी जी ने बाला साहब की झूठी प्रशंसा के पुल बान्धकर ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवनी में कौन से चार चान्द लगा दिये?

झूठी प्रशंसा के पुल बान्धना चाटुकार डूम और भाटों का काम होता है, संन्यासी को तो हर अवस्था में यथार्थवादी ही होना चाहिये। इसके आगे योगी जी ने लिखा है:- "लेखक फिर मन्त्री अजीमुल्ला खाँ" को नाना साहब के परिवार का सदस्य बताकर अजीमुल्ला का

परिचय देते हुये लिखा है:- "ख्याति फैलने पर नाना साहब ने उनको बिठूर दरबार में ले लिया था।

नाना साहब को जंच गये। नाना साहब ने बड़ी प्रशंसा की। सन् १८५४ में नाना साहब ने उन्हें राजदूत के रूप में इंग्लैण्ड भेजा। अनेक आंगल युवतियों के प्रेम पत्र उनके प्राणधन (धन्य हो रसिक योगी जी) अजीमुल्ला के पास आते थे .... ऋषि ने स्नेह को देख कर अजीमुल्ला खां को नाना का बन्धु बतलाया है।"

इस लेख में भी योगी जी ने अजीमुल्ला का ऋषि दयानन्द के पास जाना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया। योगी जी को अजीमुल्ला के अनेक गुणों में से **अच्छा गुण उसका अनेक आंगल युवतियों के साथ प्रेम पत्रों का आदान प्रदान** और उनका प्राणधन ही होना पसन्द आया है।

इसमें हम क्या कहें? अपनी अपनी रुचि होती है। परन्तु उसकी प्रशंसा करने से तो कोई बात सिद्ध नहीं होती। उसका आंगल युवतियों का प्राणधन होना कोई ऐसा प्रमाण पत्र नहीं बन जाता जो ऋषि दयानन्द से मिलने की शर्त हो।[1]

अजीमुल्ला के मिलने से दयानन्द की अज्ञात जीवनी में कौन सा आध्यात्मिक या चारित्रिक अध्याय जुड़ जाता है? या योगी जी के अनुसन्धान में कौन सी श्री वृद्धि हो जाती है?

हाँ योगी जी इतिहासकारों के लिये एक सिरदर्द और पैदा कर देते हैं कि अजीमुल्ला खाँ पहले नाना के क्लर्क रहे पश्चात् मंत्री बन गये।

योगी जी अपने स्वभाव के अनुसार उसे बढ़ा चढ़ाकर चाहे कुछ

---

1 ऋषि दयानन्द तो ऐसी चर्चा करने व सुनने को भी भड़वापन व कदाचार मानते व कहते थे। - जिज्ञासु

कह डालें परन्तु इतिहासकार उसको नाना साहब का प्रतिनिधि या वकील ही कहते हैं।

फिर योगी जी ने सन् १८५५ में हरिद्वार में ऋषि के साथ मिलने वालों में तात्या टोपे का नाम लिया है। और पृ0 १२१ पर इतिहास में से ८ पंक्तियाँ लिखकर परिचय भी दिया है।

परन्तु उस परिचय में एक शब्द भी ऐसा नहीं जिससे तात्या टोपे का ऋषि से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध सिद्ध होता है? इसलिये अप्रासंगिक बातें लिखकर कागज को काला करना व्यर्थ है।

इसी प्रकार का अप्रासंगिक लेख कुंवर सिंह के सम्बन्ध में भी लिखा है, इसमें भी १३ पंक्तियाँ व्यर्थ लिख डालीं, इन प्रसंगों के लिखने की आवश्यकता तो उस समय होती जब कोई यह कहता कि इन नाना आदि व्यक्तियों ने १८५७ के क्रान्ति युद्ध में भाग नहीं लिया था। प्रतिपक्षियों का कहना तो यह है कि नाना आदि सज्जन सन् १८५५ में हरिद्वार कुम्भ मेले में नहीं गये और न वे ऋषि दयानन्द से मिले। इसका कोई प्रमाण न देकर सच्चिदानन्द जी पुस्तक खरीदने वालों का पेट उन लोगों का परिचय देकर ही भरना चाहते हैं, जो सर्वथा अनुचित है।[1]

योगी जी कुंवरसिंह का परिचय इस प्रकार देते हैं:- कुंवरसिंह जगदीशपुर के शासक थे। अप्रैल से ही नाना साहब का कुंवरसिंह से पत्र व्यवहार चल रहा था यह क्षेत्र आरम्भ से ही श्री कुंवर के वंश धरों से शासित रहा था।"

इस लेख को पढ़कर पाठकों की समझ में क्या आ सकता है? "अप्रैल से नाना साहब का कुंवर सिंह से पत्र व्यवहार चल रहा था।" कौन से अप्रैल से?

---

1 विप्लवकारियों के परिचय देने से ऋषि जीवन की कौनसी घटना पर प्रकाश डाला गया है? यह तो लोगों को भ्रमित करने वाली बातें हैं। - जिज्ञासु

और किस सम्बन्ध में? गोल मोल बात क्यों लिखी? जब कि उसी पुस्तक में जिसका उदाहरण देकर कुंवरसिंह का परिचय दिया, लिखा है कि जब डलहौजी ने अवध के राज्य को हड़प लिया (अर्थात् १८५६) तो इसके पीछे फौरन ही कुंवरसिंह ने नाना के साथ मेलमिलाप के लिये पत्र व्यवहार आरम्भ कर दिया। (देखो सावरकर का इतिहास अंग्रेजी पृ० २६)

अप्रैल के साथ सन् न लिखने का कारण यह है कि योगी जी जान-बूझकर सन् १८५६ को छुपाना चाहते हैं, क्योंकि यदि पाठकों को इस बात का पता चल जाता कि कुंवरसिंह और नाना साहब का परस्पर प्रेम और पत्र व्यवहार तो सन् १८५६ से प्रारम्भ हुआ था तो उससे १ वर्ष पूर्व ही अर्थात् सन् १८५५ में मिलकर ऋषि के दर्शन कैसे हो सकते थे?

तो फिर दीनबन्धुजी और सच्चिदानन्द का हवाईमहल समाप्त हो जाता। वह योगी जी का बड़ा भारी धोखा है।

हमने दीनबन्धु जी तथा उनके वकील सच्चिदानन्द जी की इन कल्पनाओं को कि नानासाहब और उनके ६ और साथी सन् १८५५ में कुम्भ के मेले पर ऋषि से मिले अकाट्य युक्तियों और प्रामाणिक इतिहास के हवालों से सर्वथा मनघड़न्त कहानी सिद्ध कर दिया है। अब उनके काल्पनिक प्रश्नोत्तरों पर विचार करेंगे।

मैंने अपने पिछले लेखों में दीनबन्धु जी तथा सच्चिदानन्द जी की इन कल्पनाओं का कि सन् १८५७ की क्रान्ति के नेताओं का ऋषिदयानन्द जी के साथ सन् १८५५ में ही हरिद्वार के कुम्भ मेले पर सम्पर्क और सम्भाषण हुआ था प्रबल युक्ति और प्रमाणों से निराकरण कर दिया था।

यद्यपि नेताओं के साथ ऋषि जी के सम्पर्क का निराकरण हो जाने से ऋषि के साथ उनके प्रश्नोत्तरों का स्वयमेव खण्डन हो जाता है जैसा कि गौतम मुनि ने अपने न्याय दर्शन में लिखा है।''

"यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः ।" अर्थात जिस एक प्रकरण के सिद्ध होने पर दूसरे प्रकरण की सिद्धि हो जाती है, उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।" तथापि हम तो इन झूठी कल्पनाओं के समूह को नष्ट करना चाहते हैं, ऐसा न हो कि इन झूठी कल्पनाओं के कुछ अंकुर शेष रह जायें।

सच्चिदानन्दजी की पार्टी ऋषिदयानन्द को सन् सत्तावन की क्रान्ति का सूत्रधार मानती है। परन्तु ऋषिदयानन्द के क्रान्ति युद्ध में सक्रिय भाग लेने से १ मास पूर्व उनकी क्या स्थिति थी।

इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। दीनबन्धु जी कल्पित दयानन्द के मुख से कहलाते हैं। - "मैं आबू छोड़कर हरिद्वार के कुम्भ मेले में जाने के लिये तैयार होने लगा।

वहां के बहुत साधक और संन्यासी एक साथ वहां जाने के लिये तैयार हो गये थे, "मैं भी उनके अन्दर सम्मिलित हो गया था" (यो० आ० च० पृ० १७७) इससे अगले पृष्ठ पर लिखा है।

"योग शिक्षा और योग साधनों में मैंने ६ वर्ष बिताया था, लेकिन आगे और दूसरे योग सिद्ध महापुरुषों और तपस्वियों के सत्संग लाभ के लिये मेरे अन्दर प्रबल आग्रह हुआ।

आबू पर्वत के साधुओं ने मुझे हरिद्वार में होने वाले कुम्भ मेले में सम्मिलित होने के लिये परामर्श दिया था .... मैंने सभी से कृतज्ञता पूर्णभाव से विदाई लेकर मारवाड़, अजमेर, जयपुर, दिल्ली और मेरठ आदि होते हुये पैदल हरिद्वार की तरफ यात्रा शुरू की थी।

रास्ता लगभग सत्तर योजन का था। मैं कम से कम पाँच योजन रास्ता अतिक्रम करता था। अति सवेरे उठकर यात्रा शुरू करता था .... मैं खाने के लायक चीजें लेता था, शेष चीजें गरीब दुःखियों को बाँट देता था .... दिन हो या रात हो, निर्जन स्थानों में ही मैं विश्राम करता था

... इसी रूप से मैं पुष्कर पहुँच गया था।''

इस विवरण को पढ़कर यह कहावत याद आती है – सिर मुण्डाते ही ओले पड़ गये। इसमें लिखा है कि आबू से हरिद्वार की यात्रा (७०) योजन के लगभग थी अर्थात् आबू से हरिद्वार का रास्ता ३५० (तीन सौ पचास) मील का था। देहली से हरिद्वार तो कई बार आना जाना होता है।

हम जानते हैं कि देहली से हरिद्वार लगभग १४० मील होगा और मैं पहले बतला चुका हूं कि दीनबन्धु जी ने कल्पित दयानन्द को मेरठ में दो चक्कर कटवाये थे।

एक ८० मील का मेरठ से हस्तिनापुर और हस्तिनापुर से गढ़मुक्तेश्वर और वहाँ से मेरठ। दूसरा ४० मील का मेरठ से बाल्मीकि का आश्रम (बलैनी) और परशुराम का जन्म स्थान (महादेव का पुरा) आना जाना।

योगी जी का पाँचगुना झूठ : इस प्रकार से देहली से हरिद्वार का रास्ता २६० मील हो जाता है। अब ३५० में से २६० घटाये तो शेष रह गये ६० मील? अब पाठक स्वयं विचारे कि क्या आबू से दिल्ली नब्बे मील ही है मेरे हिसाब से सीधा नापने से ४५० मील पड़ता है। रास्ता चलते तो ५०० मील से कम नहीं पड़ सकता।

अब आर्य सज्जन सोचे कि झूठ डबल है या पांचगुणा झूठ है? यह भी निश्चय कर लें कि इस झूठ को अपने गुरु बाल ब्रह्मचारी निर्दोष, निष्कलंक महर्षि दयानन्द के सिर मढ़ना है या दीनबन्धु और सच्चिदानन्द की जोड़ी के सिर मढ़ना है?

और यह भी सोच लें कि इससे पहले 6 वर्ष तक जो योग का अभ्यास किया था, क्या वह झूठ का अभ्यास करने के लिये था? मैं मानता हूं कि अन्धविश्वासियों को छोड़कर सतर्क आर्य सज्जन इस झूठी कहानी को दीनबन्धु और सच्चिदानन्द की मन घड़न्त कहानी कहेंगे।

वे साधू कहाँ खो गये? : दूसरा झूठ यह है कि आबू से तो बहुत से साधक और संन्यासी एक साथ हरिद्वार जाने के लिये तैयार हो गये थे और दयानन्द भी उनमें सम्मिलित हो गया था, परन्तु इस लेख के आगे अगले ही पृष्ठ में आबू से दिल्ली तक की यात्रा में कोई भी साधक या संन्यासी दिखाई नहीं देता।

केवल दयानन्द अकेला ही यात्रा करता है। वे आबू के साथी कहाँ अन्तर्धान हो गये? कुछ पता नहीं चलता? वास्तव में झूठ बोलने वाले को परमात्मा की ओर से यही दण्ड मिलता है कि उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है।

योग की धुन का क्या बना? : तीसरा झूठ यह कि आबू से हरिद्वार की यात्रा का उद्देश्य तो यह था कि आगे दूसरे और योग सिद्ध महापुरुषों और तपस्वियों के सत्संग का लाभ होगा, परन्तु हुआ **यह कि राजनीति की गहरी दलदल में फंस गये**, और जब तक कुम्भ का मेला रहा इसी दलदल में फंसे रहे।

और कल्पित क्रान्ति नेताओं के साथ कल्पित प्रश्नोत्तर रहे। इनकी सत्यता को परखने के लिये हम सच्चिदानन्द जी की नियत की हुई एक कसौटी को आधार मानकर प्रश्नोत्तरों की परीक्षा करेंगे।

योगी जी ने 'आर्य मर्यादा' के २८–१–७३ के अंक में वाघेर कौन? के शीर्षक से वाघेर को बिठूर का निवासी सिद्ध करने के लिये व्यर्थ का जोर लगाया है।

उसमें किसी घटना की सत्यता के लिये कुछ कसौटियाँ रखी हैं आप लिखते हैं:-

''साथ ही यह भी विचारने की बात है, कि सत्यार्थप्रकाश सम्वत् १९३६ में छपा अर्थात ५७ की क्रान्ति के २५ वर्ष बाद। उस समय तक ५७ के गदर का कोई इतिहास नहीं छपा था।

समाचार पत्र बहुत थोड़े थे। उनमें भी ५७ की क्रान्ति का कोई विस्तृत इतिहास नहीं .... भारतीय जी ने यह समय कहां देखा इस लिये इतिहास का प्रमाण मांग रहे हैं। प्रल्य पर उनका अटूट विश्वास नहीं''। योगी जी ने गम्भीरता से विचार करने पर विशेष बल दिया है।

यह बड़ी अच्छी बात है, वास्तव में मनुष्य की परिभाषा ही यह है–

महत्वाकर्माणि सीव्यति जो अच्छी प्रकार से विचार कर कर्मों को जोड़ता है, वह ही मनुष्य है। आपने इस बात पर बल दिया है कि जहाँ इतिहास और समाचार उपलब्ध न हो प्रत्यक्षों के द्वारा ही किसी घटना की सच्चाई को जाना जाता है इस कसौटी को ध्यान में रखना चाहिये।

क्योंकि इस कसौटी के आधार पर ही हम ऋषिदयानन्द और क्रान्ति नेताओं के परस्पर प्रश्नोत्तरों की परीक्षा करेंगे। योगी जी ने भवानी लाल भारतीय जी को गम्भीरता से विचार करने का आदेश दिया है बड़ी अच्छी बात है।

परन्तु गम्भीरता से विचारने की आवश्यकता भवानीलाल जी को ही है या सच्चिदानन्द जी को भी? 'परोपदेशे पाण्डित्यं सुकर नृणाम्' दूसरों को उपदेश देने के लिए पण्डिताई को वघारना तो बड़ा सरल है परन्तु स्वयं भी गम्भीरता से अपनी त्रुटियों को देखना दुष्कर कर्म है।

दु:ख है योगी जी के ऊपर यह कहावत सर्वथा फिट बैठती है। आपने इसी लेख में लिखा है। ''हमें तो ऋषि वाक्य पर पूर्ण आस्था है।'' अभी इस लेख की स्याही सूखने भी नहीं पाई थी कि अगले ही कालम में आप लिखते हैं:-

मूलराज ने पाटण के अन्तिम चावण्डा वंश को मारकर गुजरात का राज्य उससे छीन लिया। यह घटना वि0 १०१७ की है। (९६० ई0)। .... आगे ओझाजी का राजपूताने का इतिहास पढ़िये (यह मूल राज़

सोलंकी) बाल्य अवस्था में ही राजा हुआ, सुल्तान शाहाबुद्दीन गौरी ने गुजरात पर चढ़ाई की। आबू के नीचे लड़ाई हुई। सुल्तान घायल हुआ। हार कर लौटा''।

योगी जी ओझा जी की इस बात को सत्य मानते हैं कि सुल्तान शाहाबुद्दीन गौरी ने सम्वत् १०१७ में गुजरात पर आक्रमण किया था, और आप इस बात पर भी बल देते हैं कि भवानीलाल जी को और सबको ही मानना चाहिये। परन्तु ऋषिदयानन्द जी ने तो अपने सत्यार्थप्रकाश ११ वे सम्मुल्लास के अन्त में लिखा है:-

''राजा यशपाल के ऊपर शाहाबुद्दीन गौरी गढ़ गजनी से चढ़ कर आया और यशपाल को पकड़कर सम्वत् १२४६ साल में (सन् ११९२) प्रयाग के किले में कैद किया पश्चात् इन्द्रप्रस्थ में राज्य करने लगा।

इस हिसाब से योगी जी सुल्तान शाहाबुद्दीन का भारत पर आक्रमण ऋषि दयानन्द और सब ही इतिहासकारों से २३२ वर्ष पहले मानते हैं। अर्थात ऋषि दयानन्द का लिखना गलत और ओझा जी का कथन ठीक अब पाठक स्वयं निश्चित करें कि योगी जी की आस्था ऋषि के वाक्य पर है, या ओझा जी के वाक्य पर। मैं योगी जी के लेखों को पढ़कर यही निष्कर्ष निकालता हूं कि योगी जी किसी विषय पर भी गम्भीरता पूर्वक विचार नहीं करते। अत: उनके लेखों में पदे-पदे स्खलन होता है। आप लिखते हैं-

योगी जी का भूगोल : ''इतिहास पढ़ो भवानी लाल जी और भी रहस्य खुलेंगे। फर्रुखाबाद और बिजनौर की सीमाएं मिलती हैं। बिठूर बहुत दूर नहीं है'' पता नहीं योगी जी को किस चीज का नशा चढा हुआ है कि आप फर्रुखाबाद और बिजनौर की सीमाएं मिली हुई बतलाते हैं? **योगी जी! फर्रुखाबाद और बिजनौर के बीच चार जिले आते हैं**- एटा, अलीगढ़, बुलन्दशहर और मेरठ। गंगा के उत्तर की ओर जाने से तीन जिले शाहजहांपुर, बदायूं और मुरादाबाद। इसीलिए तो लोग कहा करते

हैं- 'शेख रे शेख आपा तो देख।'

यह लेख योगी जी की नीयत की हुई कसौटी के प्रसंग में लिखा गया अतः हम योगी जी की कसौटी पर ही उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी की परीक्षा करेंगे। पहले अज़ीमुल्ला खाँ के प्रश्न को लेते हैं।

''तृतीय सज्जन अज़ीमुल्ला खाँ ने कहा- महाराज जी! भारत के व्यापक प्रजा विद्रोह के बारे में आपका क्या अभिमत है।

मेरा अभिमत- मैंने जहाँ तक देखा है यह भविष्यत् गणविद्रोह का आभास मात्र ही है। यह विद्रोह साम्प्रदायिक नहीं है। इसमें धनी, गरीब कृषक प्रजा, शिक्षित अशिक्षित सब कोई सम्मिलित हैं। यह गण जागरण भारत को नयी जीवनी शक्ति से संजीवित करेगा। धर्म की भित्ति पर यह आन्दोलन जब तक रहेगा इसका भविष्यत् तब तक उज्जवल है। शिशु और नारियों पर जब तक आधात नहीं पहुंचेगा तब तक इसका स्वरूप धार्मिक ही रहेगा। इस गणजागरण में हिन्दु-मुसलमान सम्मिलित हो रहे हैं। दिल्ली के बादशाह और बिठूर के पेशवा दोनों ही इसमें शामिल हैं। अगर हिन्दू जनता अंग्रेज़ को हटाकर पेशवा को राजा बनाना चाहे या मुसलमान जनता अंग्रेजों को हटाकर दिल्ली के बादशाह को ही भारत का बादशाह बनाना चाहें तब तो गणजागरण व्यर्थ बन जायेगा। पेशवा और बादशाह में प्रतिद्वन्द्विता ही है।

पंजाब का प्रबल पदाक्रान्त सामरिक सिख सम्प्रदाय शायद पेशवा परिचालित इस आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, बल्कि इसमें बाधा ही डालेगा। क्योंकि अंग्रेज और अफगान युद्ध में पेशवा ने दूसरे राज्य हड़पने के लिये अंग्रेज को पाँच लाख रुपये ऋण स्वरूप दिये थे। इसके बाद ही अंग्रेज युद्ध में पेशवा ने अंग्रेज पक्ष को एक हजार पदातिक सेना और एक हजार अश्वारोही सैन्य सहायता के लिये भेज दिये थे। पेशवा के इस गर्हित आचरण को शायद सिख लोग भूलेंगे नहीं।

नेपाल के सम्बन्ध में भी बात एक सी है। नेपाल की राजधानी के रक्षार्थ नेपाली लोगों ने अंग्रेज के साथ प्राणपण से युद्ध किया था। भारतीय साधारण प्रजा से उस समय कुछ भी मदद नहीं मिली थी। नेपाली लोगों ने इस बात को भुलाया नहीं है'' (यो0 आ0 च0 पृ0 १६०–१६५)

इस सन्दर्भ में अज़ीमुल्ला खाँ का प्रश्न और कल्पित दयानन्द का उत्तर अविकल रूप से दे दिया। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि इस प्रश्नोत्तर का माध्यम कौन सी भाषा थी? क्योंकि अजीमुल्ला खाँ की भाषा तो उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और फ्रैन्च ही थी। और स्वामी जी की भाषा संस्कृत और गुजराती थी। उस समय स्वामी जी को उर्दू और फारसी तो क्या हिन्दी का भी ज्ञान नहीं था। आबू से हरिद्वार तक पहुंचने में उनको १५–२० दिन लगे होंगे। इन १५–२० दिनों की यात्रा में तो उन्होंने हिन्दी नहीं सीख ली थी।

किस भाषा में प्रश्नोत्तर हुआ : ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय प्रकाशन की भूमिका में पहले सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में लिखा है जो कि सन् १८७५ में छपा था- ''जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था, और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था।'' यह बात स्वामी जी उस समय की कहते हैं जब कि उन्हें २० वर्ष उत्तर प्रदेश और दूसरे हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों में भ्रमण करते हुए हो गये थे। इन २० वर्षों के पश्चात् भी स्वामी जी को हिन्दी का कोई विशेष परिज्ञान नहीं था तो उससे २० वर्ष पूर्व १५–२० दिन की यात्रा में हिन्दी का वह अभ्यास कहां से हो गया था कि वे उन लोगों से राजनीति की गम्भीर समस्याओं पर विचार विनिमय कर सकते? नाना साहब के साथियों और लक्ष्मीबाई आदि में से कोई ऐसा नहीं था कि वे संस्कृत या गुजराती भाषा को समझ सकें। अतः प्रश्नोत्तर की बात सर्वथा कपोल कल्पित है।

दूसरी बात यह कि इस तथाकथित सम्मेलन से १५–२० दिन पूर्व स्वामी जी आबू में जहाँ उन्होंने ३ वर्ष योग साधना में बिताये थे, जहाँ उन्हें गुरुओं के आदेश के अनुसार सांसारिक बातों से सर्वथा अलिप्त रहना पड़ता था, यहाँ तक कि पत्र पत्रिकाओं को पढ़ने या पत्र व्यवहार करने और आबू में आने वाले यात्रियों से सर्वथा अलग रहना पड़ता था। इसलिए देश के अन्दर होने वाले किसी भी आन्दोलन का उनको आभास तक भी नहीं था अतः **१५-२० दिन की यात्रा से उन्हें देश व्यापी विद्रोह का आभास कहाँ से हो गया?** जब कि वे जनता की भाषा से परिचित भी नहीं थे। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि स्वामी जी की यात्रा का मार्ग मारवाड़, अजमेर, जयपुर और अलवर में होकर था, जहाँ देशी लोगों का राज्य था, वहाँ की जनता सर्वथा अनपढ़ थी वे अपने राज्य के शासक को ईश्वर के तुल्य समझते थे वे अपनी वर्तमान अवस्था में संतुष्ट थे। इसलिये उनके अन्दर विद्रोह की भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।

तीसरी बात यह है कि सन् 1855 से पहले कोई संगठन बना ही नहीं था तो हिन्दू मुसलमान किस में सम्मिलित हो रहे थे? सन् 1855 से पहले बिठूर के पेशवा और दिल्ली के बादशाह का परस्पर कोई सम्पर्क नहीं था और न स्वामी जी के पास ऐसे स्रोत ही थे, जिनसे राजाओं, बादशाओं और नवाबों तथा जनता के नेताओं की गतिविधियों को जान सके।

सब इतिहास इस बात से सहमत हैं कि सन् १८५७ की क्रान्ति के सूत्रधार और संगठन कर्त्ता नाना साहब और इसके विश्वस्त सलाहकार अज़ीमुल्ला खाँ सन् १८५४ में नाना साहब के वकील बनकर लंदन गये और वे सन् १८५४ के अन्त में यूरोप के कई देशों मिश्र और टर्की होते हुए भारत लौटे थे। इसलिये १८५५ से पहले अर्थात् स्वामी दयानन्द के कुम्भ में पहुंचने से पहले **संगठन का कार्य प्रारम्भ ही नहीं हुआ था तो उसके फल कहाँ से होते?**

वास्तव में बात यह है कि दीनबन्धु जी ने वीर सावरकर का इतिहास पढ़ा और उसमें जो घटनायें सन् १८५६–५७ में होनी लिखी थीं दीनबन्धु जी ने उन्हें ऋषि दयानन्द के नाम से दो वर्ष पहले की लिख दिया। सावरकर के इतिहास में लिखा है:-

Nana Sahib Bahadur Shah of Delhi, Moulvi Ahmadshah, Khan Bahadur Khan and other leaders of 1857 felt this relationship, and so gathered round the flag of Swadesh, leaving aside there enemity, now so unreasonable and stupid.

In short, the broad features of the Nana Sahib and Azimulah were that the Hindus and the Mohmedons should unite and fight shoulder to shoulder for the independence of that, when freedom was gained the United states of India should be formed under the Indian rulers and princes."

अर्थात् नाना साहब, दिल्ली के बहादुरशाह, मौलवी अहमदशाह, खानबहादुरखाँ और सन् 1857 के दूसरे नेताओं ने भारत माता के पुत्र होने के सम्बन्ध को अनुभव किया और इसीलिये वे स्वदेश के झन्डे के चारो ओर एकत्र हो गये और आपस की शत्रुता को छोड़ दिया क्योंकि अब वह शत्रुता निरर्थक और बुद्धि विरुद्ध ही थी।

सारांश यह है कि नाना साहब और अजीमुल्ला की नीति का विस्तृत रूप यह था कि हिन्दु और मुसलमानों को आपस में मिल जाना चाहिये और अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये कन्धे से कन्धा मिलाना चाहिये, और जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाये तो भारतीय शासकों और राजाओं के आधीन भारतीय संयुक्त राज्य की स्थापना करनी चाहिए।

दीनबन्धु जी ने चालाकी से सावरकर के लेख में से मौलवी अहमदशाह, खानबहादुरखाँ और १८५७, को निकाल दिया ताकि उसकी चोरी का पता न चले। मौलवी अहमदशाह और खानबहादुरखाँ अवध के अंग्रेजी राज्य में मिला लेने के पश्चात् अर्थात् १८५६ के पश्चात् विद्रोही बने थे।

१८५७ की क्रान्ति के लिये गुप्त संगठन समितियों की स्थापना का कार्य १८५५ के अन्त में नाना साहब और अजीमुल्ला ने प्रारम्भ किया। इसका उल्लेख सावरकर ने इस प्रकार किया है:-

How to achieve this ideal was the one all absorbing thought of every one in the palace of Brahmavarta.

Two things were necessary for the success of this terrible war to be waged to win back freedom. The first thing was to create a possionate desire in Hindusthan for this ideal, the second was to make all the country rise simultaneously for the purpose of achieving it. To turn Indian mind into the channels of freedom and to guide India, hand to strike freedom. For these two things it was necessary Government should not suspect any thing while the scheme was yet unripe. Not for getting historical experience but abide by it.

It started at Brahmavarta ... A little before 1856, Nana began to send missonaries all over India to initiate people into this political ideal. In addition to sending missionaries to awaken the people, Nana also sent tried and able men to the different princes form Delhi to Mysore to fill their minds with the united states of India and to induce them to join in the revolution."

अर्थात् ब्रह्मावर्त्त के महल में प्रत्येक व्यक्ति को यह चिन्ता व्याकुल कर रही थी कि यह उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जाये। स्वतन्त्रता की वापसी के उद्देश्य के लिए भयंकर युद्ध की सफलता के लिए दो बातें आवश्यक थी। पहली बात यह थी कि इस उद्देश्य के लिये हिन्दुस्तान में एक तीव्र जोशपूर्ण इच्छा पैदा की जाये। दूसरी बात यह थी कि इसको प्राप्त करने के लिए सारा देश एक साथ उठ खड़ा हो।

विप्लव की योजना सन् १८५६ से थोड़ा पहले : भारत के मस्तिष्क की धारा को स्वतन्त्रता की ओर फेरने के लिये और स्वतन्त्रता के लिये हाथ मारने के लिये पथ प्रदर्शन के लिये इन दो बातों को पूर्ण

करना आवश्यक था। और यह भी इस रीति से करना कि कम्पनी की सरकार को उस समय तक जरा भी सन्देह न हो जब तक कि यह व्यवस्था पक्की न हो जाये। इतिहास के अनुभवों को भुलाना नहीं चाहिये, बल्कि उससे शिक्षा लेनी चाहिये। इस पर एक गुप्त संगठन का निश्चय किया गया। और एक कदम ही उस को ब्रह्मावर्त्त में आरम्भ कर दिया . .... सन् १८५६ से थोड़े ही समय पहले जनता को इस उद्देश्य के प्रति उकसाने के लिये नाना साहब ने सारे भारत में प्रचारक भेजने आरम्भ किये। इसके साथ ही नाना साहब ने विश्वस्त और योग्य व्यक्तियों को देहली से लेकर मैसूर तक के भिन्न भिन्न शासकों के पास भेजा ताकि वे उनके मष्तिस्कों में भारतीय संयुक्त राज्य की भावनाओं को भर सकें और उनको क्रान्ति में सम्मिलित होने के लिये प्रेरित कर सके।

(Indian War of Independence P. 93)

योजना से पूर्व उसके परिणाम : इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सन सत्तावन की क्रान्ति के सूत्रधार नाना साहब थे और उन्होंने यह कार्य अज़ीमुल्ला के मशवरे से सन् १८५५ के अन्त में प्रारम्भ किया। किसी कार्य को प्रारम्भ करते ही तो वह कार्य पूरा नहीं हो जाता? उसमें समय और शक्ति लगती है। परन्तु दीनबन्धु जी ने तो संगठन के **प्रारम्भ होने से पहले ही उसके फल दयानन्द के मुख से कहलवा दिये जिससे स्पष्ट** होता है कि ये सब बातें दीनबन्धु जी की कल्पना मात्र हैं। और सावरकर के इतिहास से चुराई गई हैं।

आगे दीनबन्धु जी ने अफगानिस्तान, पंजाब और नेपाल के साथ अंग्रेजों के युद्ध की बात स्वामी जी के मुख से कहलवाई है। इसमें नेपाल का युद्ध तो सन् १८१४—१६ में हुआ जबकि ऋषिदयानन्द का जन्म भी नहीं हुआ था और न उस समय तक नेपाल के युद्ध का इतिहास उपलब्ध हुआ था। अफगानिस्तान का पहला और दूसरा युद्ध सन् १८३६—५२ में हुआ इसका इतिहास जे0 डब्लू0 ने सन् १८५१ में लिखा। पंजाब के साथ

अंग्रेजों का युद्ध १८४५–४६ और १८४६ में हुए। इन लड़ाइयों का इतिहास (The sikhs war) १८६७ में लिखे गये। इसलिये स्वामी जी ने ये इतिहास न पढ़े और न सुने।

दीनबन्धु जी के लेखानुसार स्वामी जी १८४८ से १८५४ तक के ६ वर्ष के अन्दर योग शिक्षा और योग साधना में संलग्न थे इसलिये वे गुरूओं के आदेशों के अनुसार सांसारिक झंझटों से पृथक रहते थे। ये सब बातें स्वामी जी के मुख से उन इतिहासों से लेकर कहलवाई गई है जो ऋषिदयानन्द की मृत्यु के बाद लिखे गये उदाहरण के लिये सावरकर के इतिहास को देखिये।

In 1851, the Peshwa Bajirao II died, let not a single tear should be for his death? For after losing his own Kingdom in 1818, this blot in the escutchean (कुलचिह्नांकित ढाल या शील्ड) of the Peshwa spent his time in helping to ruin the Kingdoms of other Kings? He saved considerable on the pension of eight lakhs of Rupees allowed to him by the Company. Later when the English went to war with Afghanistan, he helped them with a sum of fifty lakhs out of his savings. Soon after, the English went to war with the Sikh nation of Punjab the Peshwa-ji and his descendants spent money out of his own pocket and sent one thousand infantry and one thousand cavalry to the assistance of the English? We have rather to thank the God of Death that Baji died before 1857" (P. 26)

सन् 1851 में बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु पर एक आंसू भी नहीं बहाना चाहिए। क्योंकि उसने सन् १८१८ में अपने राज्य को खोने के पश्चात् पेशवा के चिन्हवाली ढाल में कलंक रूपी इस बाजी राव ने अपना समय दूसरे राजाओं के नष्ट करने वाले अंग्रेजों की सहायता करने में लगाया।

उसने उस धन में से जो उसे कम्पनी की ओर से ८ लाख रुपये वार्षिक पैंशन के रूप में मिलता था काफी धन बचाया था इसके पीछे जब अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के साथ युद्ध छेड़ा था उसने पचास लाख रुपये अंग्रेजों को ऋणरूप में देकर उनकी सहायता की थी। इसके थोड़े ही समय के पश्चात जब अंग्रेजों ने पंजाब के सिक्खों के साथ युद्ध छेडा ..... इस बाजी राव ने जो पेशवा और उनका उत्तराधिकारी था।[1]

अपनी जेब से धन खर्च किया और अंग्रेजों की सहायता, करने के लिए एक हजार पैदल सेना और एक हजार घुड़सवार सेना भेजी .... हम बाजीराव की मृत्यु पर भगवान का धन्यवाद करते हैं।

कि यह इस प्रकार का देशद्रोही बाजीराव सन् १८५७ से पूर्व ही मर गया।'' पाठकगण! सावरकर के इस लेख को योगी के आत्मचरित्र के उस लेख से जो अज़ीमुल्ला के प्रश्न के उत्तर में ऋषिदयानन्द के मुख से कहलवाया है मिलाकर देखें? और निश्चय करें।

कि क्या दीनबन्धु जी का लेख सावरकर के लेख की चोरी नहीं है? कई अन्ध विश्वासी यह कह सकते हैं कि सावरकर ने ही ऋषि दयानन्द के लेख की नकल की होगी? परन्तु यह तो असम्भव है।

क्योंकि ऋषि दयानन्द की तथा कथित अज्ञात जीवनी तो यत्रतत्र छुपी पड़ी थी जो सन् १९७१ में प्रकाश में आनी शुरू हई। और सावरकर की मृत्यु सन् १९७१ से कई वर्ष पहले (फरवरी १९६६ में) हो चुकी थी।

सावरकर का इतिहास सन् १९०६ में छपा था अर्थात् दीनबन्धु की अज्ञात जीवनी से ६० वर्ष पहले इसलिये ऋषि दयानन्द ने भी यह लेख सावरकर के इतिहास में से नकल नहीं किया अत: यह निश्चित है कि

---

1 यहाँ अंग्रेज़ी हिन्दी दोनों में जो अशुद्धियाँ हैं वे मूल पुस्तक में भी मुद्रण दोष से आ गई हैं। जितना सम्भव था सुधार कर दिया। - जिज्ञासु

किसी तीसरे व्यक्ति ने सावरकर के इतिहास में से ये बाते चुराकर ऋषि दयानन्द के नाम से लिख दी।

वह व्यक्ति दीनबन्धु जी या उनका कोई सहयोगी ही हो सकता है।

अजीमुल्ला के प्रश्न के उत्तर में दयानन्द के मुख से एक बात और कहलाई गई हैं- "प्लासी युद्ध से एक शत वर्ष बाद यह गण युद्ध होने वाला है। फिर आगे एक शतवर्ष भर युद्ध चलता ही रहेगा। तब युद्ध जय अवश्यम्भावी होगा। बहुत कुछ आहुतियाँ अब भी बाकी हैं।"

इस बात से यह निश्चय और पुष्ठ हो जाता है कि यह कल्पना सन् १९४७ में स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् की गई। इस बात पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। प्लासी युद्ध से एक सौ वर्ष बाद का अर्थ सन् १८५७ होता है, यह तथाकथित बात सन् १८५५ की है। जब कि गणयुद्ध की देश भर में कोई चर्चा नहीं थी और न ही इस प्रकार का कोई संगठन स्थापित हुआ था। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूं। दीनबन्धु जी का यह लेख भी सावरकर की नकल है। सावरकर ने लिखा है-

"From the northern snows to the extreme south young and old circulated the prophecy that, thousands of years ago, a holy ancient sage had fore told that the Feringhi Raj would end exactly a hundred years from the date of its creation ! Indian Newspapers gave wide publicity to this prophecy and interpreted it to mean that the Company Raj would fall to pieces on the 23rd of June, 1857 .... the year of 1857 was the centenary of the Battle of Plassey and the Company's rule would end in that year." (P. 71)

उत्तर में हिमालय से लेकर धुर दक्षिण तक नौजवानों और बूढ़ों ने भविष्य वाणी का प्रचार किया कि हजारों वर्ष पहले एक प्राचीन ऋषि ने पहले ही कह दिया था कि अंग्रेजों का राज्य उसकी स्थापना के दिन से ठीक १०० वर्ष बाद समाप्त हो जायेगा भारतीय समाचार पत्रों ने इस

भविष्य वाणी को अधिक फैलाया और इसकी व्याख्या यह की कि कम्पनी का राज्य २३ जून १८५७ को चूर चूर हो जायेगा .... सन् १८५७ का वर्ष प्लासी की लड़ाई की वर्षगाँठ थी और कम्पनी का राज्य इस ही वर्ष में समाप्त हो जायेगा।''[1]

महर्षिदयानन्द जी का इन भविष्य वाणियों पर विश्वास नहीं था। उन्होंने इन भविष्य वक्ताओं को आड़े हाथों लिया है।

परन्तु दीनबन्धु जी ने अपनी दुकान चमकाने के लिए इतिहास की इस बात को भी ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ दिया। परन्तु उसको झूठी निकलने के भय से यह भी लिख दिया कि फिर आगे एक शत वर्ष तक चलता रहेगा? परन्तु मनुष्य कितना भी झूठ को छिपाने का प्रयत्न करे। झूठ फिर भी बाहर आ ही जाता है।

दीनबन्धु जी लिखते हैं- ''तब युद्ध अवश्यम्भावी होगा। बहुत कुछ आहुतियाँ अब भी बाकी है।'' ये शब्द बतला रहे हैं कि यह कल्पना सन सत्तावन की क्रान्ति के बाद की है। **क्योंकि आहुतियों की अधिकता या कमी का पता तो यज्ञ की समाप्ति पर ही लगता है।** १८५५ में यज्ञ प्रारम्भ ही नहीं हुआ था और न ही यज्ञ की सामग्री एकत्र ही की गई थी। तो यज्ञ कहां से हो गया था? बहुत कुछ आहुतियाँ अब भी बाकी हैं, वाक्य की क्रिया वर्तमान काल की है। भूतकाल में युद्ध रूपी यज्ञ हो चुका था, उसमें बलिदान कम हुए इस लिए हार हुई। आगे शतवर्ष में बलिदान पूरे हो जाएंगे। तो विजय अवश्य होगी।

इन वाक्यों से पता चल गया कि दीनबन्धु जी की यह अपनी कल्पना है, ऋषि दयानन्द का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। स्वतंत्रता संग्राम के लिए सर्वस्व अर्पण करके युद्ध के लिए कटिबद्ध योद्धाओं को

---

1 ऋषि दयानन्द भविष्यवाणियों में विश्वास ही नहीं करते थे। इन गप्पियों ने उनके मुख में यह भविष्यवाणी गढ़कर डाल दी। - जिज्ञासु

आशीर्वाद देने वाला व्यक्ति यह कभी नहीं कह सकता कि तुम्हारी हार होगी! ऐसे अवसर पर हार की बात को कहने वाला व्यक्ति महामूर्ख कहलाता है। ऋषि दयानन्द जैसा सिंह पुरुष ऐसी मूर्खता से भरी और हिजड़ेपन की बातें कभी नहीं कह सकता था। वह तो यही कहेगा-

"क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वयुपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तत्वो तिष्ठ परंतप"

हे शत्रुओं को भस्म कर देने वाले वीर अर्जुन नपुंसक मत बन हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़ा हो जा। ऋषि दयानन्द तो यदि किसी युद्ध का संचालन करते तो यही कहते:-

"तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभम्बा जित्वा शत्रून् भुड्क्ष्व राज्यं समृद्धम मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमितमात्रं भव सव्यसाचिन्"

इससे तू खड़ा हो और यश को प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीत कर धनधान्य से सम्पन्न राज्य को भोग।

ये सब तो अपने पापों से स्वयं मरे पड़े हैं। हे सव्यसाची तू तो निमित्त मात्र ही हो जा।"

ऋषि दयानन्द से संचालित युद्ध में विजय ही हो सकती थी, पराजय नहीं। 1947 में स्वराज्य प्राप्ति इसका प्रमाण है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिध्रुवा नीति र्मतिर्मम।।

योगेश्वर जिस कार्य को प्रारम्भ करता है उसमें विजय अवश्यम्भावी होती है। जादू टोना- कमलपुष्प और चपाती की बात भी ऋषि के सिर मढ़ना पाप है।

एक और जादू टोने की बात को ऋषि दयानन्द के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। अजीमुल्ला के प्रश्नोत्तर में कहा है- कमलपुष्प

और चपाती- ''अजीमुल्ला ने प्रश्न किया था हमारी यह प्रजा विद्रोह की वाणी किस रूप से और द्रुत सामरिक और असामरिक जनता में बहुत ही चुपचाप प्रचारित हो सकती है? इसके बारे में आपसे उपदेश चाहते हैं।'' मैंने इस कार्य के बारे में बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति को बता दिया।

सामरिक जनता में प्रचार के लिए कमल पुष्प और असामरिक जनता में प्रचार के लिये चपातियों का व्यवहार होता है। किसी सैन्यवास में किसी एक सैन्य के पास कमल पुष्प को हाथ में देकर व्यापक युद्ध घोषणा की तारीख बोल दी जाये तो निःशब्द से एक हाथ से दूसरे हाथों तक कमल पुष्प भी चलता रहेगा।

और क्रान्ति की वाणी का भी प्रचार होता रहेगा। इससे किसी को सन्देह नहीं होगा .... असामरिक जनता में प्रजा विद्रोह की वाणी उसी रूप से प्रचार के लिए किसी गाँव में प्रवेश कर किसी व्यक्ति को व्यापक विद्रोह की ठीक तारीख बोल देने के बाद व्यक्ति के हाथ में चपाती दे देनी चाहिए। उससे एक टुकड़ा लेने के बाद दूसरे व्यक्ति के हाथ तक पहुंचा देना। इस रूप में टुकड़े होकर चपाती समाप्त हो जाने से अगले व्यक्ति नई चपाती बनवा के उसी रूप से दूसरे हाथों में दे देंगे .... किसी गुप्त वाणी या पवित्र समाचार के प्रचार के लिये यह अत्यन्त प्राचीन प्रणाली है अजीमुल्ला खाँ ने मेरी कही हुई इस प्रणाली के द्वारा सारे भारत में सर्वत्र क्रान्ति के समाचार को पहुँचाने का प्रबन्ध किया था। जिनके हाथों में चपाती या कमल पुष्प आ जायेगा वे अगर इसको दूसरे हाथों में नहीं देंगे तो भयंकर पाप के भागी बनेंगे। इस स्वाभविक भय से प्रचार कार्य चालू रहा था। इस सांकेतिक अन्यथा गुप्त प्रणाली के प्रवर्तक बहुत पुराने जमाने के व्यक्ति थे। आजकल यह प्रणाली चालू है''। (यो० का० आ० च० पृ० १६५–६६)

यह सनातन पद्धति कैसे? : उपर्युक्त लेख में यह बात सर्वथा झूठ है कि बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति में सामरिक जनता में और

असामरिक जनता में कमल पुष्प और चपातियों को प्रचार साधन बतलाया हो? सनातन पद्धति तो केवल वेद ही है। इसके अतिरिक्त सारे संसार में और कोई सनातन पद्धति नहीं। महर्षि दयानन्द ने स्वयं सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में लिखा है- (उत्तर) और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती।

मैं दीनबन्धु जी के सब समर्थकों को चुनौती देता हूँ कि वे यह सिद्ध करके दिखलायें कि चारों वेदों में से किसी एक वेद में कमल पुष्प और चपाती को प्रचार का साधन बतलाया है? सच्चिदानन्द जी ने इस झूठी पुस्तक को छपवाया और इसके झूठ और सत्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और यह भी लिख दिया - "अजीमुल्ला खाँ ने चपाती का प्रचार किया पर इतिहासकारों को इस तथ्य का पता नहीं।" धन्य हो! योगी जी! इतिहासकारों को इसका पता नहीं। अजीमुल्ला की रूह आलमे अर्वाह से आपके ऊपर नाजिल होकर सब तथ्य आपको बतला गई।"

परन्तु आप तो अपने आपको सर्वशास्त्र निष्णात और महामहिम योगी लिख रहे हैं, आप ही बतलाइये कि वह बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति कहाँ लिखी है? विद्यामार्तण्ड धर्मदेव जी से भी व्यवस्था ले लेना! योगी दीनबन्धु जी के समर्थन में लिखते हैं- "सन् ५७ में आये चपाती, रक्तकमल का इतिहास" इस शीर्षक से ओक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया आदि अंग्रेजी पुस्तकों के उद्धरण देकर आप अन्त में कहते हैं-

अलं बहु गवेषणया। योगी जी की गवेषणा अंग्रेज़ी इतिहास तक ही सीमित है परन्तु यह कौन सिद्ध करेगा कि यह "बहुत ही प्राचीन पद्धति है?" यह तो हम भी कहते हैं कि दीनबन्धु जी ने अंग्रेजी इतिहासों की नकल करके ये सब बातें ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ दी! अब हम बताते हैं कि दीनबन्धु जी ने चपाती की बात कौन से इतिहास से ली? चपाती शब्द का प्रयोग कई इतिहासों के अन्दर है। जैसे ओक्सफोर्ड हिस्ट्री

आफ इण्डिया पृ० ७१४)

Chupatties and lotus flower's and about the middle of 1856. दूसरा लेख सावरकर के इतिहास का है। वहाँ लिखा है- "These messengers were not a new idea at all. Whenever the work of revolution was started, the agents Chapatees have always done the work of carrying the erand far and wide in the land. For, in the mutiny of Vellore, too, Chapatees were used to perform the same function P. 79 ये दूत (चपातियाँ) सर्वथा एक नया विचार नहीं था। जब कभी क्रान्ति का काम आरम्भ किया गया इन एजण्टों ने हमेशा देश में दूर दूर तक सूचनाओं को पहुंचाने का कार्य किया या, क्योंकि वैल्लोर में भी जब क्रान्ति हुई थी, उस समय भी इन चपातियों ने वही कार्य किया था।''

इन दोनों अंग्रेजी इतिहासों में से दीनबन्धु जी ने सावरकर के इतिहास से चपाती की बात को चुराया है। इसका प्रमाण यह है कि जब दीनबन्धु जी ने २१ जून सन् १६७० के 'सार्वदेशिक साप्ताहिक' के ५४वे अंक में यह लेख दिया था उस समय एक शीर्षक था- 'कमलपुष्प और चापाटी' इसके अन्दर चापाटियों का, चापाटी देना चापटी बना के और हाथों में चपाती। इन पांच स्थानों में चापाटी का प्रयोग किया गया है।'

चापाती शब्द का प्रयोग भारत की लगभग सब ही भाषाओं में होता है, फिर दीनबन्धु जी ने 'चापाटी' क्यों लिखा? कारण यह है कि दीनबन्धु जी ने सावरकर के इतिहास में 'Chapatees' पढ़ा था और वहां पर बहुत से स्थानों में 'Chapatees' आया था, इसलिए दीनबन्धु जी के मस्तिष्क में बद्धमूल हो गया। 'ओक्सफोर्ड' Chupatees' लिखा था, उसे हिन्दी में लिखने से चपाट्टी लिखा जाता। अतः इससे पता चलता है कि दीनबन्धु जी ने यह लेख सावरकर के इतिहास की नकल की है। यदि स्वामी जी यह जीवनी लिखाते तो वे चपाती शब्द का उच्चारण चापाटी कदापि नहीं कर सकते थे। वे किसी शब्द के अप भ्रंश को कभी सहन नहीं करते थे वे तो अंग्रेजी शब्द को भी संस्कृत का रूप देते थे।

दीनबन्धुओं ने बेल्लोर की क्रान्ति का जिक्र न करके बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति लिख दिया ताकि झूठ का पता न लग जावे। जब दीनबन्धुजी के सहयोगियों ने उनके लेखों में कई स्थानों पर चपाती शब्द का प्रयोग देखा तो उन्होंने दीनबन्धु जी को सुझाया कि चपाती लिखने से तो तुम्हारा झूठ खुल जायेगा। अत: उन्होंने चापाटी के स्थान पर चापाती लिखना मान लिया। और योगी का आत्मचरित्र में चपाती ही छपा हुआ है। यह संशोधन सम्पादक की ओर से हुआ होगा।

क्रान्ति के समय चपातियों के इतिहास का पता भी सावरकर ने दिया है। उसने लिखा है The messenger were not a new idea at all' ये दूत (चापातियाँ) बिल्कुल एक नया विचार नहीं था कब से था? 'In the mutiny of vellore too' बेल्लोर की क्रान्ति में भी इन चपातियों ने दूत का काम किया था। चपातियों के प्रयोग के इतिहास का जितना पता नाना साहब आदि को था उतना और को नहीं था। और स्वामी दयानन्द को इसका पता बिल्कुल नहीं हो सकता था कारण यह है कि बेल्लोर की क्रान्ति सन् १८०६ में हुई थी। जबकि नाना साहब का पिता बाजीराव द्वितीय पूना की गद्दी पर विराजमान था।

राजा होने के नाते अपने पड़ोसी राज्यों की गतिविधियों की उसको पूरी जानकारी थी। वेल्लोर को क्रान्ति में चपातियों के प्रयोग का वृतान्त भी उसने सुना हुआ था। अपने पुत्र को उसने सब वृतान्त सुनाये होंगे, इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं। नाना साहब अपने पिता बाजीराव के साथ सन् १८२७ से सन् १८५१ तक रहा। इसके पश्चात् भी नाना साहब अपने पूर्वजों के इतिहासों को बड़ी रुचि के साथ पढ़ते थे।

सावरकर ने अपने इतिहास में बड़े विस्तार के साथ इसको लिखा है। स्वामी जी के जन्म १८२४ से लेकर १८५५ तक कोई ऐसा समय नहीं आया कि स्वामी जी ने कभी राजनैतिक पुस्तकों का अध्ययन किया हो। और घर से निकलकर लगभग १० वर्ष तक तो सिवाय योग के और कोई

धुन उनकी थी ही नहीं। इसलिये सन् १८५७ की क्रान्ति से सम्बन्ध की सब बात दीनबन्धु जी की अपनी कल्पनाएं हैं। स्वामी जी की विशेषता तो इस बात में मानी जाती कि वे किसी वेद से या उपवेद से कोई ऐसी विधि निकाल कर बतलाते। स्वामी जी अंग्रेजी तो पढ़े नहीं थे, वे तो संस्कृत के ही विद्वान थे। योगी जी अंग्रेजी में प्रमाण देकर किसको कैसे बहकाना चाहते हैं?

रक्त कमल की बात किसी अवध निवासी ने चलाई। देखिये सावरकर जी लिखते हैं-

Now that the wheels of the secret machinery of the Revolution were set in motion, it was necessary to arrange that all the various motions should be synchronised. With purpose in Bengal a messenger of the Revolutionaries went to the cantonments, taking a red lotus in his hand. He would give the red lotus in to the hands of the Chief Indian Officer in the first regiment. Chief would pass it on to the nearest Sepoy. The sepoy would pass it on to next to him, and so the red lotus would pass from Sepoy, to sepoy, through the hands of all the thousand Sepoy and then the last sepoy would return it back to the Revolutionary messenger." P. 78

अब जब कि क्रान्ति की गुप्त मशीन के पहियों को हरकत में लाया गया तो यह अवश्य था कि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि भिन्न भिन्न गतियों का परस्पर सम्पर्क हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बंगाल में क्रान्तिकारियों का एक दूत एक रक्त कमल हाथ में लेकर छावनी में जाता था। और वह पहली रेजीमेण्ट के मुख्य भारतीय अधिकारी के हाथ में उस रक्तकमल को देता था। वह मुख्य अधिकारी उस कमल को अपने से निकटतम सिपाही को देता था। और सिपाही अपने से अगले को इस प्रकार से यह रक्तकमल हजारों के पास पहुंच जाता था। और अन्तिम सिपाही उस कमल को वापिस आकर क्रान्तिकारियों के दूत को दे देता था। वह दूत बड़ी तीव्र गति से एक छावनी से दूसरी छावनी में संदेश देता

था।'' सावरकर ने यह लेख Narrative of the mutiny P.4 के आधार पर लिखा है। इस पुस्तक में यह भी लिखा है-

"There was not, it appears a detachment not a station in Bengal through which the lotus flower was not circulated. The circulation of this symbol of conspiracy was just after the annexation of Oudh."

रक्तकमल अवध से चला : अर्थात् ऐसा प्रतीत होता कि बंगाल में सेना की एक टुकड़ी भी नहीं थी कि जहाँ पर यह रक्तकमल न पहुंचा हो? षड्यन्त्र के इस सौदे से चिन्ह का प्रसार ठीक उस समय प्रारम्भ हुआ, जिस समय अवध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। (अर्थात् सन् १८५६ के अन्तिम महिनों में)'' इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि रक्तकमल का प्रचार बंगाल की रेजीमेण्टों में किसी अवध निवासी के द्वारा ही हुआ, क्योंकि बंगाल की रेजीमेण्टों में अधिकतर सिपाही अवध के पूर्वभ्य्या लोग ही थे। नबाब अवध की गद्दी से उतार देने के कारण उनके अन्दर अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था इस स्थिति से लाभ उठाने के लिये नबाब अवध के वजीर अलीनकी खाँ ने गुप्त रूप से उनमें प्रचार आरम्भ किया। सावरकर जी लिखते हैं-

The nawab of Lucknow and his Vazir were now residing near Calcutta. To all apearances Vizir of Lucknow looked as if he was wasting his time in luxary, as a matter of fact, however, Vizir Ali-naki-khan was as much absorbed in his dangerous Consipiracy near Calcutta as Nana Sahib himself was. One can not help feeling struck at the scheme– secret, Extensive, and daring which Ali Nabi-khan was wearing to reduce the sepoy in Bengal and to repare them to join him at the right moment already determind upon," P. 66.

लखनऊ का नवाब और उसका बजीर अलीनक्खीखाँ अब कलकत्ता के पास रह रहे थे वह अपने सब व्यवहारों में ऐसा दिखाता था कि वह आरामतलबी में अपने समय को नष्ट करता है। परन्तु वास्तविकता

यह है कि वजीर अली नकी खाँ कलकत्ते में अपने भयंकर षड्यन्त्र में इतना ही तल्लीन था जितना कि नाना साहब स्वयं कोई भी व्यक्ति नबी खाँ की ऐसी स्कीम को देखकर विस्मयाकुल हुए बिना नहीं रह सकता जो वह बंगाल के सिपाहियों को उकसाने के लिए और उन्हें इस बात के लिये तैय्यार कर रहा था कि वे ठीक समय पर जो कि पहले ही निश्चित किया जा चुका था उसके साथ मिल सके। वह स्कीम गुप्त बड़ी विशाल और साहसपूर्ण थी''। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल की रेजीमेन्टों में रक्त कमल के प्रचार का कार्य नबीखाँ के द्वारा ही किया गया था, उसमें अज़ीमुल्ला खाँ का कोई हाथ नहीं था।

उपस्थित परित्यज्यात परिप्यं याचत इति वाधित न्याय: ऐसे षड्यन्त्रकारी के होते हुये जो अपने काम में खूब निपुण है और अवध के सिपाहियों में सर्वाधिक प्रभाव है अजीमुल्ला जैसे व्यक्ति को ठूस देना बुद्धिमत्ता नहीं। बंगाल के सिपाही और किसान दोनों लालकमल की व्याख्या इस प्रकार से करते थे।

All is going to be red सब कुछ लाल हो जायेगा।[1] यह भी कहा जाता है कि क्रान्ति का दिन ३१ मई सन् १८५७ रविवार इस लिये नियत किया गया था कि उस दिन सब अंग्रेज और ईसाई लोग अपने बच्चों सहित रविवार के दिन गिरजा घर में प्रार्थना में संलग्न होंगे। अत: उनके कत्लेआम में क्रान्तिकारियों को अधिक सुविधा होगी। योगी जी और उनके साथी बड़े गर्व के साथ इस क्रूरतम और अत्यन्त नीचता पूर्ण षड्यन्त्र का आविष्कारक और प्रचारक ऋषि दयानन्द को मानते हैं। पहले दर्जे के झूठ को भी ऋषि दयानन्द के सिर मढा़ गया है। 1806 में वेल्लोर

---

1 मुझे तो 'All is going to be red' ये शब्द भी चोरी का माल लगता है। ये शब्द कभी महाराजा रणजीत सिंह ने अपने जोशीले सेनापतियों को कहे थे। वे अंग्रेज़ों से टक्कर लेने पर तुले हुए थे तब महाराजा ने उन्हें कहा थाए ''एक दिन सब लाल हो जाएगा''। योगी जी ने इसे यहाँ घुसेड़ दिया। – जिज्ञासु

में होने वाली चपातियों की जो नाना साहब के जन्म से कुल 18 वर्ष पहले हुई प्राचीन कहना झूठ है और फिर बहुत प्राचीन कहना डबल झूठ और फिर बहुत ही प्राचीन तिगुना झूठ और फिर बहुत ही प्राचीन सनातन पद्धति कहना झूठ की पराकाष्टा है। यह अत्यन्त झूठ बोलने वाला व्यक्ति क्या योगी कहला सकता है? आर्यो पक्षपात छोड़ो पार्टीबाजी को लात मारो और प्यारे ऋषि की प्रतिष्ठा को बचाओ। जिस दयानन्द ने संन्यास आश्रम की दीक्षा लेते हुए अपने पूज्य गुरु के सामने जल में खड़े होकर हाथ में जल लेकर तीन बार यह कहा हो 'भूत: सर्वभूतेभ्यो भयामस्तु मन: सर्वभूतमयोभयामस्तु' मेरे से सर्व प्राणियों को अभय प्राप्त हो। जो अपनी बनाई हुई संस्कार विधि में संन्यासी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में लिखता हो।

यो दत्वा सर्व भूतेभ्य: प्रव्रजत्यभयं गृहाट। तस्य तेजोमया लोका भवति ब्रह्मवादिन:''

दृष्टिपूत न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जल पिवेत्। सत्यपूताँ वदेद्वाचं मन: पूतं समाचरेत्''

क्लृप्तकेशनखश्मश्रु: पात्रौ दण्डी कृसुम्मवान 'विचरेन्नियतो नित्यं''

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाँ अमृतत्वाय कल्पते''

दूषितोऽपि चरेद्धर्म यत्र तत्राश्रमे रत:। सम: सर्वेषुभूतेषु न लिङ्ग धर्म कारणम्''

अर्थात जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकलकर संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात मुक्ति का आनन्द लोक प्राप्त होता है। संन्यासी को चाहिए कि आँख से अच्छी तरह देखकर चले, कपड़े से छान कर पानी पीवे, सत्य से पवित्र करके वचन बोले। मन को पवित्र करके आचरण करे। संन्यासी

को चाहिए कि वह केश, नख ओर दाढ़ी मूंछ कटवाता रहे (सच्चिदानन्द जी जरा इस दर्पण में अपने आप को देखें) जलपात्र, दण्ड और गेरवे वस्त्र रक्खें। और सदा नियमपूर्वक किसी को पीड़ा न देता हुआ विचरण करे। ईन्द्रियों को विषयों से रोक कर, रागद्वेष का क्षय करके और सब प्राणियों के प्रति अहिंसा के बर्ताव से मनुष्य मुक्ति के योग्य होता है। संन्यासी को चाहिए कि चाहे कोई उसको दूषित या भूषित भी करे, परन्तु वह जिस किसी आश्रम में रहता हुआ (विशेषतया संन्यासी) सब प्राणियों को समान भाव से वर्ते। यह भी सोच लेना चाहिये कि लिंगमात्र से अर्थात गेरवे वस्त्रों आदि से ही संन्यासी नहीं होता। (यदि उसमें सहृदयता नहीं है, वह कदापि संन्यासी नहीं हो सकता)'' ऋषि दयानन्द ने संन्यासी के लिए अहिंसा, समता, विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व, निष्पक्षता और सत्यता के ऊपर इतना बल दिया है! परन्तु सच्चिदानन्द जी ने ऋषि दयानन्द के सब व्रतों को भंग कर दिया। झूठ बोलना और बुलवाना षड्यन्त्र करना और कराना, दम्भ और पाखण्ड करना और कराना सब कुछ ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ दिया। योगी का आत्मचरित्र'' से योगी का सच्चरित्र प्रकट नहीं होता बल्कि योगी का दुश्चरित्र ही प्रकट होता है। सच्चिदानन्द जी कहते हैं कि कर्नल अल्काट को सच्ची बात इसलिये नहीं बताई कि वह विदेशी था। फिर यदि योगी का आत्मचरित्र' को आर्यसमाज सत्य मान कर अपना ले, तो आर्यसमाज को संसार के सामने खड़ा होकर यह कहने का अधिकार कैसे रह जाता है? कि दयानन्द जगत गुरु था।

और आर्य समाज के छटे नियम संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है कि क्या गति होगी?

सच्चिदानन्द की पार्टी एक ऐसी पार्टी है जो ऋषि दयानन्द को एक सम्प्रदाय विशेष का सुधारक ही मानती है। वह उसके धर्म के सार्वभौमिकत्व पर विश्वास नहीं करती। इसीलिए ऋषि दयानन्द के मुख से बार बार स्वधर्म और हिन्दुधर्म की रट लगवाते हैं। अभी १५–२० दिन

पहले समाधि से उठकर ऋषिवर आये और आते ही सच्चिदानन्द जी के कहने के अनुसार तलवार पकड़ने के लिए तैय्यार हो गये। आगे चलकर घुड़सवार भी हो गये? इधर ऋषि दयानन्द के हाथ में जो संन्यास और योग की दीक्षा ले चुका था तलवार थमा दी उधर महात्मा गांधी ने न तो संन्यास की दीक्षा ली न योग की दीक्षा ली और अन्त तक गृहस्थी रहा, परन्तु सत्य और अहिंसा के व्रत को ऐसी निष्ठा के साथ निभाया कि बड़ी से बड़ी परीक्षा आने पर भी अपने व्रत से नहीं डगमगाया।

एक दो वर्ष नहीं बल्कि पूरे पचास वर्ष तक निभाया। यदि सच्चिदानन्द की बात पर आर्यसमाज आरूढ हो जाये तो महात्मा गांधी के मुकाबले में दयानन्द का क्या मूल्य रह जाता है? महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के हथियार से अंग्रेजों को हराकर अपने जीवन काल में ही स्वराज्य प्राप्त किया परन्तु सच्चिदानन्द के अनुसार दयानन्द ने तलवार भी उठाई और दूसरों को हिंसा के लिये तैय्यार किया और स्वयं भीरु बनकर छुपता फिरा और अत्यन्त अपमान के साथ हार भी खाई।

'योगी का आत्मचरित्र' का सन् ५७ से सम्बन्धित भाग अधिकतर सावरकर के इतिहास की नकल है' इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि दीनबन्धु जी ने 'विठुर' का नाम सब जगह 'ब्रह्मावर्त्त' ही पुकारा है। और यह स्पष्टतः सावरकर की अपनी कल्पना मात्र है' किसी और इतिहास में 'विठुर' के स्थान पर 'ब्रह्मावर्त्त' शब्द नहीं आता है। सावरकर के इतिहास में यह शब्द कम से कम ५० बार आया है। यह तो हो नहीं सकता कि सावरकर जी ने यह शब्द ऋषि दयानन्द से सुना होगा! क्योंकि सावरकर जी का जन्म महर्षि के निर्वाण पद प्राप्त करने के बाद में हुआ था। और ऋषि दयानन्द जी के किसी ग्रन्थ में बिठूर जी का नाम ब्रह्मावर्त्त कहीं लिखा भी नहीं था स्वामी दयानन्द ने अपनी आयु भर में केवल एक बार जुलाई सन् १८६६ में बिठूर को देखा था जब वह कन्नौज से बिठूर मदारपुर होते हुए कानपुर गये थे .... देखो महर्षि जी का जीवन चरित्र

देवेन्द्र लिखित पेज0 १८३। दीनबन्धु जी ने तो सावरकर जी की पौराणिक कल्पना की नकल करते हुए 'बिठूर का नाम ब्रह्मावर्त्त इसलिए लिखा है कि - "ब्रह्मा ने यहाँ यज्ञ किया था इसलिये इसका दूसरा नाम ब्रह्मावर्त्त है (यो0 पृष्ठ १६७)

परन्तु दीनबन्धु जी के वकील सच्चिदानन्द जी लिखते हैं - "नाना साहब और लक्ष्मीबाई तो ब्राह्मण वीर थे इसीलिये बिठूर का नाम ब्रह्मावर्त्त नाना साहब की मृत्यु के पश्चात् रक्खा गया।[1] ऋषि दयानन्द के समय बिठूर ही नाम था (आर्यमर्यादा यो0 आ0 च0 २८ जनवरी सन् १६७३)

सच्चिदानन्द के कथनानुसार ब्रह्मावर्त्त का नाम नाना साहब और लक्ष्मीबाई के कारण रखा गया न कि ब्रह्मा की यज्ञस्थली होने के कारण। इस परस्पर के विरोध से सिद्ध हो गया कि ये दोनों झूठे हैं। वास्तविकता यही है कि दीनबन्धु जी ने सावरकर के इतिहास से चोरी करके उसको ऋषि दयानन्द के सिर मढ दिया। तात्या के साथ ऋषि के प्रश्नोत्तर का प्रसंग भी दीनबन्धु जी ने दिया है। वह इस प्रकार है- "चतुर्थ सज्जन तात्या टोपे ने पूछा"- महाराज जी! भारतवर्षव्यापी जिस प्रजा विद्रोह का आभास आपकी नजर में आ गया है। उसके कारणों के बारे में आपका क्या अभिमत है?

मेरा अभिमत- इस समभाव्य प्रजा विद्रोह के मूल कारणों को हम भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।- 'धर्मनीतिक, समाजनीतिक, राजनीतिक, अर्थनीतिक, युद्धनीतिक और प्रत्यक्ष।' इन ६ कारणों की व्याख्या जो ऋषि दयानन्द के नाम से लिखी गई वह ढाई पृष्ठों में लिखी गई है। (देखिये यो0 आ0 च0 पृष्ठ १६१ से १६४ तक)

---

1 ऋषि के सब जीवन लेखक जिन्होंने बिठूर की चर्चा की है, इसे बिठूर ही लिखा है। ऋषि के सबसे बृहत् जीवन चरित्र के लेखक लक्ष्मण जी ने भी बिठूर ही लिखा है। योगी जी को इस नये नाम के लिये भी एक कहानी गढनी पड़ गई। - जिज्ञासु

तब तक तो ऋषि ने व्यापक भ्रमण नहीं किया था : इसके सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि भारतवर्ष व्यापी प्रजा का विद्रोह का आभास क्या चीज है? यह आभास क्या कोई पूंछड़िया तारा है जो स्वामी जी को पलक झपकते ही दिखाई दे गया? या सारे भारत में फैली हुई बेचैनी है जिसको स्वामी जी ने देशव्यापी दौरा करके अपनी आँखों से देखा था? सच्चिदानन्द जी जरा अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करके उत्तर दे? आपकी प्रतिज्ञा है - "बिना देखे खण्डन करना उनकी रीति नहीं। (यो0 आ0 च0 पृ0 ६८) **योगी जी बतलायें कि सन् १८५५ से पहले स्वामी जी ने देश व्यापी दौरा कब किया था?** और कितने मुसलमानों और हिन्दुओं को पादरियों द्वारा ईसाई बनाते देखा था? और यह भी बतायें कि स्वामी जी ने अंग्रेजों की धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति और युद्धनीति का अध्ययन किस गुरु के चरणों में बैठकर किया था और इन विषयों में इतनी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि वे अधिकार रूप से दूसरे - राजनीतिक नेताओं को उपदेश दे सके? स्वामी जी की जीवनी से तो यह पता चलता है कि उन्होंने 22 वर्ष की आयु में ही नागरिक जीवन को छोड़कर अरण्य जीवन स्वीकार कर लिया था, और अपना जीवन महात्माओं, साधुओं, संन्यासियों और विरक्तों के सत्संग में रहकर और नदी नर्मदा के तट पर चाणोद कल्याणी और व्यास आश्रम के महान् योगी योगानन्द जी से योगविद्या सीखकर अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन से परमानन्द का पान करते हुए व्यतीत करते रहे। तत्पश्चात् अहमदाबाद में दुग्धेश्वर मन्दिर में रहकर बड़े तप निष्ठा के साथ स्वामी शिवानन्द जी और स्वामी ज्वालानन्द जी की देखरेख में योग का क्रियात्मक रूप से अभ्यास करते हैं। वहाँ से जाकर आबू पर्वत पर तीन वर्ष तक और भी अधिक उग्ररूप तप और निष्ठा के साथ योग साधना करते रहे। अतः उनके पास ऐसा कोई समय नहीं था कि वे इन राजनैतिक आदि विषयों का अध्ययन कर सकें। इसलिये यही मानना पड़ता है कि यह सब दीनबन्धु जी और सच्चिदानन्द जी का मिला जुला षड्यन्त्र है!

दीनबन्धु जी ने तात्या टोपे और ऋषि दयानन्द जी का जो जो काल्पनिक प्रश्नोत्तर लिखा है, उसमें तात्या टोपे के इस प्रश्न का कि भारत वर्ष व्यापी प्रजा विद्रोह के कौन से कारण है उत्तर देते हुए ऋषि दयानन्द के मुख से इस तरह कहलवाया:- "सामाजिक कारण ... इनके लिये (अंग्रेजों के लिये) बड़ौदा के गायकवाड़ और हैदराबाद के डा0 महेन्द्रलाल सरकार, गंगाधर कविराज ये सब देशी चिकित्सक हैं। राजा राममोहन राय और ईश्वर चन्द विद्या सागर भी देशी संस्कारक हैं और वेद उपनिषद भी देशी ग्रन्थ हैं। उनके लिये भारत के सब कोई और सब कुछ घृणा के पात्र और घृणा की वस्तु है।" देखना यह है कि क्या वास्तव में यह सन्दर्भ ऋषि दयानन्द का कहा हुआ है? या दीनबन्धु जी का कपोल कल्पित है? यह बात अप्रैल सन् १८५५ में कही हुई बतलाई जाती है। इससे केवल एक मास पूर्व ही स्वामी जी आबू पर्वत से हरिद्वार आये थे। जहाँ वे ३ वर्ष से योगसाधना में संलग्न थे, और सांसारिक उलझनों से सर्वथा अलग रहते थे आबू से पहले स्वामी जी के जीवन के २७ वर्ष गुजरात में ही बीते थे। इन २७ वर्षों में स्वामी जी ने गुजरात से बाहर एक कदम भी नहीं रखा। गुजरात भारत के ठेठ पश्चिम किनारे पर है और बंगाल ठेठ पूर्व में।

इस प्रकार से गुजरात और बंगाल में लगभग १५०० मील का अन्तर होगा। उस समय तक यातायात के साधन पदयात्रा, घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी, ऊँट या नवका ही थे। उस समय रेलगाड़ी या मोटर इत्यादि का प्रचलन नहीं हुआ था। समाचार पत्रों का भी नाम मात्र था। महापुरुषों की जीवनियाँ और इतिहास की पुस्तकें भी दुर्लभ थी।

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि बंगाल के उपर्युक्त व्यक्तियों के साथ ऋषि दयानन्द का परिचय किस माध्यम से हुआ था। और स्वामी जी को इन बातों का विवरण कहाँ से मिल गया था कि अंग्रेज लोग बंगाल के उन विद्वानों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। घर से निकलकर दयानन्द को एक ही धुन थी कि कोई उसको मृत्यु पर

विजय पाने का उपाय बताये। इस धुन के कारण सांसारिक झंझटों से वे सर्वथा अलग रहते थे। केवल योगियों और सिद्ध पुरुषों का ही वे परिचय चाहा करते थे। बंगालियों की विद्वत्ता, चिकित्सा और संस्कार प्रियता की ओर उनकी रुचि नहीं थी।

केवल बंगाल के विचाराकों का ज्ञान : सन् १८५५ में ऋषि को बंगालियों की श्रेष्ठता का परिचय कैसे मिला यह भी विचार की बात है कि उपर्युक्त विद्वानों में केवल बंगालियों का ही नाम क्यों है? **महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मद्रास और उत्तर प्रदेश के विद्वानों का नाम क्यों नहीं?** और साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि बंगाल के सत्यव्रत सामश्रमी के जीवन की ऐसी कौन सी अलौकिक और चमत्कारिक घटना थी कि ६ वर्ष की आयु में ही उसके गम्भीर पांडित्य की छाप संसार के विद्वानों पर लग गई हो और अरण्यवासी ऋषि दयानन्द के कानों तक भी उसकी गूंज सुनाई दी हो? (याद रखना चाहिये कि सत्यव्रत सामश्रमी का जन्म २८ मार्च सन् १८४६ ई0 का था अतः सन् १८५५ में अप्रैल मास तक उसकी आयु केवल ६ वर्ष की थी)।

उपरलिखित प्रश्नों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् एक सतर्क, पक्षपात रहित और सत्यान्वेषी सज्जन यही निष्कर्ष निकालेगा कि उपर्युक्त सन्दर्भ ऋषि दयानन्द प्रोक्त कदापि नहीं हो सकता। वह तो किसी ऐसे मस्तिष्क की कल्पना है जिसमें यह बू समाई हुई है कि बंगालियों के सिवाय सारा भारत अशिष्ट, असभ्य, उजड्ड और मूर्ख है।

वह व्यक्ति वाम वर्ग का अनुयायी है।

यह कल्पना कौन से मस्तिष्क की है, इसको तो ठीक ठीक दीनबन्धु जी ही जानते हैं- परन्तु इसको प्रस्तुत करने वाले दीनबन्धु जी ही हैं, इसलिये प्रत्यक्षतः इस कल्पना का उपज्ञ दीनबन्धु जी को ही कहना न्याय संगत होगा!

दीनबन्धु जी की दृष्टि में तो बंगालियों के सिवाय और कोई विद्वान् और विश्वासपात्र है ही नहीं। इसलिये दीनबन्धु जी ने अपने दृष्टिकोण को ऋषि दयानन्द का दृष्टिकोण बताकर प्रचारित करना चाहा है! और साथ ही ऋषि दयानन्द को आर्यसमाज की स्थापना के लिये बंगालियों का और विशेषतया ब्राह्मसमाजियों का और उसके संस्थापक राजा राममोहन का ऋणी होने का षड्यन्त्र रचा है। इसलिए स्वामी जी के मुख से ये शब्द कहलवाये हैं 'राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी देशी सुधारक हैं।'

इसी बात को दीनबन्धु जी १७ वर्ष के बाद अर्थात १६ मार्च सन् १८७३ में ऋषि दयानन्द के मुख से कहलवाते हैं- ''संस्कार पन्थी बंगाल की तरफ मेरा मानसिक आकर्षण स्वाभाविक ही था। राजा राममोहन राय का मूर्तिपूजा विरोधी आन्दोलन (सन् १८१७) ईसाई धर्म विरोधी आन्दोलन (सन् १८२०) सतीदाह निषेध आन्दोलन (सन् १८२६)[1] जनसाधारण के अन्दर आर्य धर्मप्रचार के लिये महर्षि देवेन्द्र ठाकुर के तत्वबोधिनी पत्र का संस्थापन, और स्त्री शिक्षा के लिये विद्यालय स्थापनादि का कार्य और महर्षि देवेन्द्र ठाकुर के द्वारा ऋग्वेद का बंगानुवाद प्रकाशन (सन् १८४१) आदि सर्वतोमुखी संस्कारादि के कारण बंगाल के प्रति मेरा आकर्षण पैदा हो गया था।'' (यो० आ० च० पृ० २४१)

फिर अगले पृ० पर लिखा है- ''बंगाल की शिष्टता हमारे लिये विस्मयकर थी बहुत प्रान्तों से मुझे लाठी, पत्थर, गाली-गलोच, गदहें की शोभा यात्रा। कलंकारोपण ओर बार बार ज़हर मिले थे। मालूम होता है कि यहां के मनुष्य यह सब जानते ही नहीं। काशी शास्त्रार्थ के विरोधी पक्ष के नेता कलकत्ते में हमसे सुहृद्भाव से मिलते हैं हुगली शास्त्रार्थ के

1 योगी जी को इतना ज्ञान नहीं था कि राजा राममोहनराय ने एक से अधिक विवाह किये थे। वह सुधारक तो थे परन्तु, अपनी माता के ऊपर सम्पत्ति के लिए अभियोग चलाया। - जिज्ञासु

बाद विरोधी पं0 ताराचरण तर्करत्न ने दोतल्ला गृह में बातचीत में रौर सम्यक मधुर व्यवहार में जो सौजन्य का परिचय दिया है उसको कभी मैं नहीं भूलूंगा। हमारे विरोधी पण्डित महामहोपाध्याय श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न को ही मैंने उनके व्यवहार से मुग्ध होकर अपनी संस्कृत भाषा की वक्तृता को बंगला में अनुवाद करने को दिया था। कलकत्ता के समाज सुधारक, राष्ट्रसुधारक साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ज्ञानी गुणी, साधु ईसाई, मुसलमान, राजा-महाराजा सभी से मुझे सम्मान और श्रद्धा प्राप्त हुई है।''
ये तीन उद्धरण मैंने इसलिए दिये हैं कि पाठक इन उद्धरणों को सतर्क होकर पढ़ें कि क्या कारण है कि स्वामी जी ने बंगालियों की विद्वत्ता सौजन्य और शिष्टता आदि पर तो इतना कुछ कहा है। परन्तु दूसरे प्रान्तों के सम्बन्ध में स्वामी जी ने लगभग २० वर्ष गुजारे परन्तु 'योगी का आत्मचरित्र' में कल्पित दयानन्द ने उत्तर प्रदेश के सौजन्य, शिष्टता और विद्वत्ता आदि के सम्बन्ध में एक पंक्ति भी **नहीं लिखी बल्कि कलकत्ता में जाकर भरपेट निन्दा ही की है।** और बंगाल में कुल चार मास ही रहे, परन्तु बंगाल की शिष्टता, सौजन्यता, राष्ट्र सुधार, वैज्ञानिकता और विद्वत्ता पर इतना लट्टू हो गये कि बार बार उनकी प्रशंसा के पुल बाँधते रहे। और जन्मभर के लिये उनके शिष्टाचार को स्मरण करने का आश्वासन देते रहे। क्या दयानन्द जैसे समदर्शी महात्मा के लिये यह उचित है कि एक ही देश के भिन्न भिन्न भागों में इतना भिन्न भेद रखे कि एक को सिर पर उठा ले और दूसरे को नीचे पटक दे?[1]

---

1 दीनबंधु तथा योगी के झूठ के महल को यह प्रसंग भूमि पर बिछा देता है। महर्षि दयानन्द ने लगभग २२-२३ वर्ष उ. प्र. में प्रचार यात्रायें कीं। शिक्षा भी यहीं प्राप्त की। ठाकुर मुकन्द सिंह जी, गोपाल सिंह जी व मुन्ना सिंह की सेवा व भक्ति के लिए ऐसी प्रशंसा कभी नहीं की। आर्य सन्मार्ग संदर्शिनी सभा में ऋषि के पक्ष में कलकत्ता वाले मौन रहे। ईश्वरचन्द्र जी विरोध में थे। ऋषि ने अपमान के लिए किसी को कोसा नहीं। सम्मान करने पर वाह! वाह! नहीं की। साधु की गरिमा इसी में है। अत: यह पूरा प्रसंग सर्वथा निराधार व कल्पित है। - जिज्ञासु

क्या वह भावना उस दयानन्द की थी जिसने आर्य समाज के छटे नियम में यह लिखा कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना जिसने संसार के उपकार के लिये वेदों का भाष्य किया ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका लिखी सत्यार्थ प्रकाश जैसा ज्ञान का भण्डार ग्रन्थ रत्न लिखा बीसियों और ग्रन्थ लिखे व्याख्यान और शास्त्रार्थ किये। २० वर्ष तक घूम घूम कर सारे देश में सत्य धर्म की गंगा बहा दी परन्तु दीनबन्धु और सच्चिदानन्द के अनुसार अज्ञात जीवनी की यह अद्भुत निधि केवल बंगालियों को ही दी। वे जीवनी ही सर्वांग पूर्ण और निर्दोष है परन्तु यह कही गई है केवल बंगालियों के लिये और उसके लिये भी यह आदेश है कि उसको मेरे जीवन काल में प्रकाशित न किया जाये। ऋषि का यह **अत्यन्त पक्षपात पूर्ण व्यवहार क्यों? क्या यह व्यवहार दयानन्द की ओर से है। या किसी और की ओर से, नहीं यह दयानन्द की नीति नहीं थी।** ऋषिवर की नीति तो सदैव यही रही कि चाहे कोई उनका मान करे अपमान करे, उनकी निन्दा करे या स्तुति करे, कोई पत्थर मारे या फूल बरसावे दयानन्द के मुख से तो सबके लिये आशीर्वाद ही निकलता था तो फिर यह पक्षपात भरा व्यवहार किसकी ओर से हुआ? उत्तर है कि यह सब करामात दीनबन्धु जी की है। दीनबन्धु का दोगलापन या प्रच्छन्न ब्रह्मसमाजीपन।[1]

दीनबन्धु जी प्रान्तीय भावनाओं से ओत प्रोत एक बंगाली सज्जन हैं। उनकी धार्मिक भावनायें ब्रह्मसमाज की शिक्षाओं से प्रभावित हैं! या **यह भी कह सकते हैं कि 'गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास'।** इसका प्रमाण स्वयं दीनबन्धु जी देते हैं:-

---

1 विरक्त शिरोमणि स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के एक ओर शिष्य श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज ने इसी प्रसंग को देखकर मुझे कहा था कि महर्षि दयानन्द सरीखा संन्यासी ये शब्द नहीं कह सकता। यह कथन उनके स्वभाव तथा व्यवहार के विपरीत है। जो कुछ स्वामी पूर्णानन्द जी ने यहाँ लिखा है यही बातें सर्वानन्द जी महाराज ने मुझे कही थीं। - जिज्ञासु

"दोनों समाजों में वेद की मान्यता के सम्बन्ध में वैषम्य अवश्य है ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय वेद को अभ्रान्त और अपौरुषेय नहीं मानते थे ... मैं भी ब्रह्मसमाज के आमन्त्रण पर चितपुर रोड के आदि ब्रह्मसमाज की बेहला की और उल्टा डाँगा साधारण ब्रह्मसमाज की वेदी से शास्त्र पाठ करता हूँ।" इसकी पुष्टि श्री सच्चिदानन्द जी इस प्रकार करते हैं।

"यह तो पं० दीनबन्धु जी का ४० वर्ष का अध्यवसाय एवं तीनों ब्रह्मसमाजों की वेदी पर व्याख्याओं से सम्पर्क तथा शान्ति निकेतन के वेद कथा करते रहने का प्रभाव है कि यह आत्मचरित्र उपलब्ध हो गया।" इस लेख के द्वारा सच्चिदानन्द जी ने दीनबन्धु जी की इस बात के लिये सराहना की है कि उन्होंने ४० वर्ष तक तीनों ब्रह्मसमाजों की वेदी से व्याख्यान देकर उनके साथ सम्पर्क बनाए रखा, परन्तु बाबू देवेन्द्रनाथ की जो कि ऋषि दयानन्द का मतवाला हो गया था और ऋषि दयानन्द की जीवनी की खोज में १० वर्ष तक[1] जगह जगह मारा-मारा फिरता रहा और प्रान्तीय भावना को अपने पास नहीं फटकने दिया और ब्रह्मसमाजियों के विरोध की भी परवाह नहीं की, सच्चिदानन्द जी निन्दा करते हुए लिखते हैं- "इस सब संघर्ष का अध्ययन कर देवेन्द्रबाबू ने ब्रह्मसमाज को आड़े हाथों लिया उन्होंने (ऋषिवर ने) पं० कृपाराम से पूछा कि आपने हमारे व्ययार्थ चन्दा किन किन लोगों से एकत्र किया है?

पं० जी ने उन्हें चन्दे की सूचि दिखाई तो उसमें केवल दो व्यक्तियों को छोड़कर शेष ब्रह्मसमाजी बंगाली थे। महाराज दयानन्द यह ज्ञात करके कुछ क्षुब्ध हुए, और कहा 'आप लोगों को इन (ब्रह्मसमाजियों) पर भरोसा नहीं करना चाहिये। ये लोग आज आपके मित्र हैं कल शत्रु हो

---

1 श्री देवेन्द्र बाबू जी ने दस नहीं पन्द्रह वर्ष पर्यन्त ऋषि-जीवन की सामग्री की खोज में देश भर में भ्रमण किया। इस काल अवधि में अन्य कार्य भी करते रहे सो स्वामी जी ने जीवनी को दिये गये समय को दस वर्ष माना है। - जिज्ञासु

जायेगे।'' (भ0 द0 च0 पृष्ठ ५३८) ''पृ0 ४२० पर ब्रह्मसमाजियों का अशिष्टाचार लिख मारा 'ब्रह्मसमाजियों ने व्यय के २५ रुपये तक ले लिए। इतना तीखा प्रहार किया देवेन्द्रबाबू ने। फिर उनको कौन ब्रह्म समाज सहयोग देता?'' सच्चिदानन्द जी ने देवेन्द्रबाबू की केवल इसलिये निन्दा की कि उसने बंगाली ब्रह्मसमाजियों का पक्ष न लेकर ऋषि दयानन्द के साथ उनके अशिष्ट व्यवहार को साफ साफ खोलकर रख दिया और दीनबन्धु जी की सराहना इसलिए की कि वे ४० वर्ष तक अवैदिक और विधर्मी ब्रह्मसमाजियों की लल्लो-चप्पो करते रहे। इससे यह भी पता चलता है कि ये दोनों सज्जन उन ब्रह्मसमाजियों के एजेन्ट हैं जिनके उपर भरोसा न करने का ऋषिवर आदेश दे गए थे। और मैं दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि दीनबन्धु जी ४० वर्ष तक वैदिक धर्म के कट्टर विरोधी ब्रह्मसमाजियों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचते रहे कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से ब्रह्मसमाजियों के अपमान का बदला लिया जाय। और इसी उद्देश्य से बनावटी पुराने लेख तैयार किये गए। ताकि ऋषि दयानन्द जी अपनी लेखनी से लिखी हुई और अपने मुंह से कही हुई, और ऋषि दयानन्द के दीवानों शहीद अकबर, पं0 लेखराम तथा देवेन्द्रबाबू[1] आदि महापुरुषों के सब परिश्रम को नष्ट भ्रष्ट किया जा सके। और ऋषि दयानन्द को अवसरवादी, षड्यन्त्रकारी, दम्भी, पाखण्डी और झूठा सिद्ध किया जा सके।

जा यह कहा जाता कि ऋषि दयानन्द जी जब कलकत्ते गये थे तो उन्होंने बंगालियों के शिष्टाचार से प्रभावित होकर अपनी सारी जीवनी और अपनी सब गुप्त बातें भी ब्रह्मसमाजी विद्वानों को लिखा दी थीं तो इसके उत्तर में ऋषि दयानन्द जी के शब्द सुन लीजिए जो उन्होंने बंगाल के एक वर्ष पश्चात् अर्थात् १२ जून सन् १८७४ में लिखने प्रारम्भ किये

1 देवेन्द्रनाथ जी ने अपनी जीवन-पूंजी भी ऋषि-जीवन की सामग्री की खोज में फूँक दी। उनकी ऋषि भक्ति को हमारा शत शत नमन। - जिज्ञासु

थे, (क्योंकि पहला सत्यार्थ प्रकाश १२ जून सन् १८७४ को लिखना आरम्भ किया था।) उसके ११वें समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज की आलोचना की है उसमें लिखा है-

ब्रह्म समाज के सम्बन्ध में ऋषि के विचार-

इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं, खानपान विवाह आदि के नियम भी बदल दिये हैं अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की करनी तो दूर रही उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान नहीं हुआ। आर्यावर्त्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

ब्रह्मसमाज की उद्देश्य की पुस्तक में साधुओं की संख्या में 'ईसा' 'मूसा' 'मुहम्मद' 'नानक' और 'चैतन्य' लिखते हैं। किसी ऋषि महर्षि का नाम भी नहीं लिखा, भला जब आर्यवर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया पिया अब भी खाते पीते हैं, अपने माता पिता, पितामह आदि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्रह्मसमाजी और प्रार्थना समाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना इंग्लिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धि कारक काम क्योंकर हो सकता है? अंग्रेज, यवन, अन्त्यज आदि से भी खाने पीने का भेद नहीं करना। उन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जातिभेद छोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायेगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उल्टा बिगाड़ होता है। इसी बात (वेदों को न मानने) से तुमको आर्यावर्त्तीय लोग अपना नहीं समझते और तुम आर्यवर्त्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके।"

स्वामी जी के इस लेख से स्पष्ट हो गया कि बंगाल के चार महीने तक भ्रमण करने के पश्चात् स्वामीजी के ऊपर बंगालियों की विद्वत्ता, देश सुधार, शिष्टता और धार्मिकता का प्रभाव नहीं हुआ, बल्कि यही उल्टा प्रभाव पड़ा कि बंगाली अंग्रेजी पढ़कर अपनी विद्या का झूठा अभिमान करते हैं और खान पान आदि बातों में अंग्रेजी की नकल करके मूर्ख बने हुए हैं और आर्यवर्त्त के लोग उनसे घृणा करते हैं।

पाठक अपनी बुद्धि से सोचें कि ऋषि ने जब स्वयं बंगाल में भ्रमण करते हुए बंगालियों के आचरणों को और विशेषतः ब्रह्मसमाजियों के वेद विरुद्ध प्रचार को अपनी आँखों से देख लिया था और कानों से सुन लिया था, तो ब्रह्मसमाजियों के ऊपर विश्वास करके वे अपने जीवन की कहानियाँ और क्रान्तिकारी प्रोग्राम को कैसे सुना सकते थे?

स्वामी दयानन्द के मुख से ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में कहलवाया है:- 'मेरे परममित्र पण्डितप्रवर ईश्वरचन्द्र जी विद्यासागर से अनुरोध पत्र आया है।'

ऋषि दयानन्द की ओर से ऐसी बात कहना सर्वथा झूठ है **ऋषि दयानन्द किसी मनुष्य को अपना परममित्र, परमपूज्य और परमसहायक कहना कदापि सहन नहीं कर सकते थे।** वे तो परमात्मा को ही अपना परममित्र, परमसहायक, और परमपूज्य आदि शब्दों से सम्बोधित करते थे।[1] महर्षि देवेन्द्र ठाकुर के शिष्टाचार के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि उन्होंने सन् १८७० में प्रयाग में स्वामी जी को कलकत्ता आने के लिये निमन्त्रण तो दिया, परन्तु १६ दिसम्बर सन् १८७२ को स्वामी जी के कलकत्ता पहुंचने पर चन्द्रशेखर वैरिस्टर उनको महर्षि देवेन्द्र ठाकुर के उद्यान में ठहराना चाहते थे परन्तु कृतसंकल्प न हुए।'

---

1 'आर्याभिविनय' में इसके अनके प्रमाण मिलते हैं। ऋषि जीवन की घटनायें यह प्रमाणित करती हैं कि वे किसी मनुष्य को कभी परममित्र नहीं मानते थे। - जिज्ञासु

पं0 ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के साथ स्वामी जी के घनिष्ठ प्रेम का कोई प्रमाण उनके जीवन चरित्र से नहीं मिलता। उनके दो बार साधारण रीति से मिलने का ही वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है- "स्वामी जी को वस्त्र धारण करने का परामर्श बाबू केशवचन्द्र सेन और पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने दिया है। (म0 द0 जी0 च0 पृ0 २३२)

इससे कोई ऐसा भाव प्रकट नहीं होता कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ऋषि दयानन्द के परममित्र थे। ऋषि में यह गुण था कि वे उचित बात को सरलता से स्वीकार कर लेते थे, चाहे उस बात का कहने वाला कोई साधारण सा व्यक्ति ही क्यों न हो।

बाबू केशवचन्द्र का मज़हब-

बाबू केशवचन्द्र सेन की शिष्टता के सम्बन्ध में जीवन चरित्र में लिखा है:- 'उन दिनों बाबू केशवचन्द्र सेन ने यज्ञोपवीत के विरुद्ध आन्दोलन कर रखा था।' (पृ0 २५८) आगे लिखा है- 'इनका नाम बाबू केशवचन्द्र सेन था। यह अंग्रेजी के बड़े ओजस्वी और प्रगल्भ वक्ता थे। यह दावा करते थे कि वह ईश्वर के प्रेरित और प्रेषित व्यक्ति हैं।

वास्तव में वह अपना वही पद समझते थे और लोगों को समझाते भी थे कि जो पद ईसा का था। उसके विचार ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की ओर अधिक झुके हुए थे। (पृ0 २६२)

फिर आगे लिखा है- कलकत्ते में नवद्वीप के पण्डितों ने एक दिन एक सभा की। उसमें केशवदेव बाबू स्वामी जी को गाड़ी में अपने साथ सवार करा कर ले गये। केशव बाबू सभा के विसर्जन होने से पहले ही चले गये थे। चलते समय स्वामी जी के लिये गाड़ी तक का प्रबन्ध नहीं किया गया। कुछ देर प्रतीक्षा के पश्चात् एक सज्जन ने प्रबन्ध कर दिया तब कहीं वह डेरे पर पहुंचे। (पृ0 २६६) इससे आगे लिखा है-

'कलकत्ते रहने के समय स्वामी जी को वैदिक पाठशालायें

स्थापित करने की चिन्ता रहती थी, परन्तु **कलकत्ते में किसी ने इस विषय में कोई उत्साह प्रदर्शन नहीं किया।**'' पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि स्वामी जी को कलकत्ते में आने का निमन्त्रण देने वाले और वैदिक पाठशालाओं की स्थापना में उत्साह प्रदर्शन करने वाले बंगाल के मूर्धन्य नेता महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर स्वयं थे परन्तु कलकत्ते जाने पर ठाकुर साहब ने वैदिक पाठशालाओं की स्थापना के लिए कोई उत्साह नहीं दिखाया। ऊपर के सब उद्धरण बाबू देवेन्द्रनाथ के लिखे हुये (म0 द0 जी0 च0) से उद्धृत किये गये हैं, जो स्वयं बंगाली था। बाबू केशवचन्द्र सेन की भारत के प्रति निष्ठा कैसी थी? और धार्मिक विश्वास क्या था? इसके सम्बन्ध में फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक रोम्योरोलाँ ने अपनी पुस्तक Prophets of new India (भारत के नये पैगम्बर) में लिखा है-

Keshawa Chandra Sen ran counter to the rising tide of national consciousness then feverishly awakening.

अर्थात् केशवचन्द्र सेन जातीय चेतना के उस उभरते हुये तूफान के विरुद्ध दौड़ा जो उस समय बड़ी तेजी के साथ उठ रहा था। ६ अप्रैल सन् 1879 को केशवचन्द्र सेन ने कलकत्ता के टाउन हाल में एक व्याख्यान दिया था, जिसका शीर्षक था-

'India asks, who is Christ?' (भारत पूछता है ईसा कौन है?) इस व्याख्यान में केशव बाबू ने कहा:-

"My christ! My sweet christ! The brightest jewel of my heart, the necklace of my soul. For twenty years have I cherished him in this my miserable heart."

मेरा ईसा, मेरा प्यारा ईसा, मेरे हृदय का सर्वाधिक चमकता हुआ हीरा, मेरे आत्मा का हार।'' रोम्यो रोलाँ ने परमहंस रामकृष्ण की जीवनी में केशवचन्द्र का इन शब्दों में वर्णन किया है-

Christ had touched him, and it was to be his mission of life to introduce him to the Brahma Samaj? Keshawa not only accepted and adopted Christianity but extolled it with greatness and was enlighted with it. He called it the loftiest expresion of world's religions consciousness."

अर्थात् ईसा ने उसके अन्तस्थल को स्पर्श किया था, और केशवचन्द्रसेन के जीवन का यह लक्ष्य होना था कि वह ईसाईयत को ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट कराये। केशव ने न केवल ईसाइयत को अंगीकार और धारण किया था प्रत्युत उस को महत्व का उच्च स्थान दिया था। और वह स्वयं उस से आलोकित था। वह उसे संसार की धार्मिक चेतना का सर्वोच्च विचार मानता था।'' रोम्यो रोलाँ ने इस पर प्रश्न किया है:-

Did any thing still separates him from Christianity[1]

क्या अब भी कोई चीज उसको ईसाइयत से पृथक कर सकती है? फ्रेंक विलिङ्टन ने "The Brahma Samaj and Arya Samaj" (ब्रह्मसमाज और आर्य समाज) नाम की पुस्तक में लिखा है Let India accept christ were the words of Keshwa Chandra Sen one of the leaders of Brahma Samaj when he preached to a large congregation at Calcutta in 1879. To Christian ears no words would be more welcomed.

भारत को ईसा को स्वीकार कर लेना चाहिए' ये शब्द केशवचन्द्र सेन के थे जो भारतीय ब्रह्मसमाज के नेताओं में से एक था। उसने ये शब्द उस समय कहे जब वह सन् १८७६ में कलकत्ते में एक बहुत बड़ी सभा में व्याख्यान दे रहा था। ईसाई कानों के लिये इनसे अधिक स्वागत के योग्य और कौन शब्द हो सकते हैं?''

मैंक्समूलर ने केशवचन्द्र सेन के सम्बन्ध में लिखा है:-

---

1 केशवचन्द्रसेन ने अपनी पुत्री के विवाह के लिये जो नीति रीति अपनाई क्या वह किसी सुधारक को शोभा देती है। - जिज्ञासु

"Believers of Keshwa Chandra Sen have forfeited the name thiests because their leader has been more and more inclined to the doctrine of christianity".

अर्थात् केशवचन्द्र सेन के अनुयायी अपने ब्रह्मनाम को गवाँ चुके हैं क्योंकि उसका नेता ईसाइयत के सिद्धान्तों की ओर अधिक झुक चुका है।' मैंक्समूलर पाश्चात्य प्रभाव से आर्यसमाज के लोप की सम्भावना करता हुआ लिखता है:-

But it is different with the Brahma Samaj under Devendra Nath Tagore and Keshawa Chandra Sen. They do not fear the west, on the contrary they welcome it"

परन्तु देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज की अवस्था भिन्न है। वे पश्चिम (यूरोप) से भयभीत नहीं है, अपितु इसके विपरीत वे इसका स्वागत करते हैं। मैंने ये बहुत से उद्धरण इसलिये दिये हैं ताकि पाठक स्वामी दयानन्द के बंगाल में भ्रमण करने के समय बंगाल के नेताओं और विशेषत: ब्रह्मसमाज के नेताओं की उन भावनाओं और नीतियों का अच्छी प्रकार से निरीक्षण कर सकें जो उस समय स्वदेशभक्ति और स्वधर्म के प्रति उनके अन्दर काम कर रही थी? यह सर्वविदित है कि ऋषि दयानन्द ने अपने पूज्य गुरु विरजानन्द के सामने अपने सर्वस्व को आर्यावर्त्त देश की सर्वतोमुखी उन्नति और शुद्ध वैदिक धर्म की विश्वभर में स्थापना के लिये होम देने की प्रतिज्ञा की थी। ऐसी अवस्था में जब कि ऋषि दयानन्द और बंगाली नेताओं की भावनाओं और आदर्शों में पूर्व और पश्चिम का अन्तर हो, ऋषिवर बंगालियों को अपनी ३६ वर्ष की जीवनी के सब भेद, यहाँ तक कि अपनी गर्दन को भी कैसे अर्पण कर सकते थे, क्यों बताते। अत: यह सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ने बंगाली नेताओं के सामने अपनी तथाकथित 'अज्ञात जीवनी' बिल्कुल नहीं सुनाई थी। यह तो दीनबन्धु जी और उसके साथियों काएक षड्यन्त्र था इस का पता एक दूसरे प्रकार से भी चल जाता है।

वह यह कि इस तथाकथित 'अज्ञात जीवनी' के उपसंहार में लिखते हुए दीनबन्धु जी ने ऋषि दयानन्द के मुख से कहलवाया। १६ दिसम्बर १८७२ को मैं कलकत्ता पहुंचा था, आज ३१ मार्च १८७३ है। अब हुगली और वर्धमान की तरफ़ भी मुझे जाना है। बहुत प्रान्तों से मुझे लाठी .... गदहे की शोभा यात्रा ..... मिले थे .... यहां के लोग यह सब जानते ही नहीं ..... काशी शास्त्रार्थ के विरोधी पक्ष के नेता कलकत्ते में हम से सुहृद भाव से मिलते हैं। हुगली शास्त्रार्थ के बाद विरोधी पं0 ताराचरण तर्करत्न ने दोतल्ला-गृह में बातचीत में और सम्यक् मधुर व्यवहार में सौजन्य का परिचय दिया है ..... हमारे विरोधी पं0 महामहोपाध्याय श्री महेशचन्द्र को ही मैंने उनके व्यवहार से बंगला के अनुवाद करने को दिया था।''

इस सन्दर्भ में चार बातें सर्वथा झूठी हैं:-

(१) ऋषि दयानन्द का अंग्रेजी सन् और तारीख का प्रयोग

(२) बहुत प्रान्तों में .... गदहे की शोभा यात्रा। (सन् १८७२ तक[1] किसी भी प्रान्त में ऋषि को अपमानित करने के लिए गदहे की शोभा यात्रा निकालने का वर्णन किसी जीवन चरित्र में नहीं आता। सन् १८७५ में पूना नगर में ऋषि के विरुद्ध गदहे की शोभा यात्रा का वर्णन है। अतः दो वर्ष पहले ही कलकत्ते में उस घटना का वर्णन करना असम्भव है)।

(३) कलकत्ते से हुगली जाने के कई दिन बाद होने वाले शास्त्रार्थ की बात का आठ दिन पहले ही कलकत्ते में वर्णन करना सर्वथा असम्भव है।

(४) श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न को 'महामहोपाध्याय' की उपाधि अंग्रेजी सरकार की ओर से सन् १८८७ में दी गई, इसलिए सन् १८७३ में

---

1 स्वामी पूर्णानन्द जी की विलक्षण अदा पर बलिहारी जिन्होंने दीनबन्धु व सच्चिदानन्द योगी की यह ठगी पकड़ ली। महर्षि अंग्रेज़ी तिथि व सन् का प्रयोग नहीं करते थे। गदहे की शोभा यात्रा की घटना घटने से पूर्व ही ब्रह्म समाजियों को पता चल गई? झूठ के पैर नहीं होते। षड्यन्त्र की पोल खुल गई। - जिज्ञासु

अर्थात् डिग्री मिलने से १४ वर्ष पहले ही ऋषि दयानन्द द्वारा कलकत्ते में महेशचन्द्र को 'महामहोपाध्याय' कहा जाना सर्वथा असम्भव है। इसलिए जिस संदर्भ में चार झूठ और असम्भावनाएं मिली हुई हों, वह ऋषि दयानन्द का कहा हुआ कदापि नहीं हो सकता। सच्चिदानन्द जी ने हुगली के सम्बन्ध में कहे झूठ को छुपाने के लिये एक टिप्पणी दी है। वे लिखते हैं-

'स्वामी जी के कलकत्ता वास के पश्चात् श्री हेमचन्द्र जी चक्रवर्ती योगाभ्यास के लिए १ वर्ष तक स्वामी जी के साथ ही रहे। उनकी विदाई के समय स्वामी जी ने उन्हें जो बताया था, उसमें से कुछ अंश हेमचन्द्र जी के लेख का उनके गृह से श्री दीनबन्धु जी को बाद में प्राप्त हुआ।'

इसमें सच्चिदानन्द जी की कोरी गप्प ही हैं। क्योंकि हेमचन्द्र जी कलकत्ते के पश्चात् स्वामी दयानन्द जी के साथ कुल ५१ दिन रहे अर्थात् कानपुर २० अक्तूबर से ६ नवम्बर सन् १८७३ कुल २० दिन लखनऊ १० नवम्बर से १६ नवम्बर १८७३ कुल १० दिन। फर्रुखाबाद २० नवम्बर से १० दिसम्बर १८७३ कुल २१ दिन। सब मिलाकर ५१ दिन। हेमचन्द्र जी रुग्ण होकर फर्रुखाबाद से कलकत्ते चले गये (देखो म० द० जी० च० पृष्ठ २८५ से २९१) ५१ दिन को ३६५ दिन बताना महाझूठ है। दूसरा झूठ सच्चिदानन्द जी का यह है कि उन्होंने दीनबन्धु जी के झूठ को छुपाने का प्रयत्न तो किया, परन्तु झूठ छुप नहीं सका।

क्योंकि यदि १ वर्ष के पश्चात् हेमचन्द्र जी के विदाई के समय फर्रुखाबाद में यह सन्दर्भ कहा होता तो उस समय **'यहां के लोग' शब्द का प्रयोग फर्रुखाबाद के लागों के लिए होता,** कलकत्ते के लागों के लिए नहीं। दूसरे 'कलकत्ते में हमसे सुहृदभाव से मिलते हैं' शब्द न कहे जाते! तीसरे 'ताराचरण तर्क रत्न ने .... सौजन्य का परिचय दिया है' शब्द न कहे जाते, बल्कि 'परिचय दिया था' शब्दों का प्रयोग किया जाता।

उपरिलिखित प्रमाणों में मैंने सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि 'योगी का आत्मचरित्र' दीनबन्धु जी एण्ड कं. को की एक मनघड़ण्त कहानी ही नहीं है **अपितु आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द की प्रतिष्ठा को नष्ट करने का भयंकर षड्यन्त्र है।**

१६ नवम्बर सन् १६७२ के 'आर्यमर्यादा' में मैंने अपनी लेखमाला प्रारम्भ की, जिसका उद्देश्य 'योगी का आत्मचरित्र' नाम की पुस्तक को एक मनघड़ण्त कहानी सिद्ध करना था। मैंने इसके सम्पादक, गवेषक और पोषक स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी के ऊपर पाँच आक्षेप किये थे -

आक्षेप नं0 १ यह योगी जी ने अपने अनुसन्धान पृ0 १३५ पर लिखा है- ''इस यात्राक्रम में थियोसोफिस्ट वाले सब स्थान आ गये हैं। वह संक्षिप्त है, यह आत्मचरित्र विस्तृत है।'' मैंने 'योगी का आत्मचरित्र' से ११० स्थानों की और थियोसोफिस्ट से ३८ स्थानों की सूची देकर योगी जी से पूछा था कि आप अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'योगी का आत्मचरित्र' में थियोसोफिस्ट के १८ स्थानों को दिखलाने की कृपा करें। ये स्थान ये हैं: रामपुर, काशीपुर, द्रोणसागर, सम्भल, मरादाबाद, गढ़मुक्तेश्वर, गंगातट, फर्रूखाबाद श्रृंगीरामपुर, कानपुर, इलाहाबाद और कानपुर इलाहाबाद के बीच कई स्थान (५) बनारस, मिर्जापुर और चाण्डलगढ़।

आक्षेप नं0 २ यह कि यदि आप दोनों आत्मचरित्रों में कोई विरोध नहीं मानते तो इस विरोध का परिहार करें कि थियोसोफिस्ट के अनुसार स्वामी दयानन्द जी अप्रैल सन् १८५५ से दिसम्बर सन् १८५७ तक **अर्थात् २ वर्ष ८ मास तक उत्तर प्रदेश के अन्दर ही रहे और एक दिन के लिए भी उत्तर प्रदेश से बाहर नहीं गये इसके विपरीत** यो0 आ0 च0 के अनुसार स्वामी जी ने अप्रैल सन् १८५५ से दिसम्बर सन् १८५६ तक अर्थात ४ वर्ष ८ मास तक केवल दो तीन मास उत्तराखण्ड में लगाये। शेष साढे चार वर्ष तक उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्र में एक कदम तक नहीं रखा। योगी जी इसका समाधान 'योगी का आत्मचरित्र' से करें?

आक्षेप नं0 ३ यह कि सच्चिदानन्द जी ने २१ मार्च सन् १९७१ के सार्वदेशिक में लिखा था कि **'मंगलपाण्डे ने २६ मार्च सन् १८५६ में दिल्ली के परेड मैदान में विद्रोह किया था,'**[1] यह सर्वथा झूठ है। इसको सत्य सिद्ध करें?

आपेक्ष नं0 ४ यह कि योगी जी में दोगलापन है- एक ओर अनुसन्धान के पृ0 १०६ से १०८ तक स्वामी दयानन्द को काशीपुर से चाण्डालगढ़ तक ले जाते हैं। उधर योगी का आत्मचरित्र की पुष्टि करते हैं जिसमें स्वामी दयानन्द उत्तर प्रदेश से बाहर ही घूमते हैं उत्तर प्रदेश के अन्दर एक कदम नहीं रखते।

चरबी के कारतूस और क्रान्ति का प्रारम्भ

'२६ जनवरी सन् १८५७ में कलकत्ते के पास दमदम नाम गाँव में एक छोटी सी घटना हो गई जिससे सन् ५७ की क्रान्ति के विषय में यह शर्त (सन ५७, ३१ मई के दिन क्रांन्ति आरम्भ करने का आदेश) पूरी न होने दी।

सन् १८५३ में एक नई किस्म के कारतूस कम्पनी ने अपनी भारतीय सेना के लिये प्रचलित किये ...... आरम्भ में केवल एक दो पलटनों में उन्हें प्रचलित किया गया। भारतीय सिपाहियों ने अज्ञात में कई जगह नये कारतूसों को दाँत से काटना स्वीकार कर लिया धीरे २ कारतूसों का इस्तेमाल बढ़ाया गया।

बैरकपुर के पास कारतूसों के बनने के लिए एक कारखाना खोला गया। एक दिन दमदम का एक ब्राह्मण सिपाही पानी का लोटा हाथ में लिये बैरक की ओर जा रहा था अकस्मात् एक मेहतर ने आकर पानी पीने के लिये सिपाही से लोटा माँगा सिपाही ने देने से इंकार कर दिया। इस

---

1 लगता है कि बोगस योगी ने समाधिस्थ होकर झूठ गढ़ने की सिद्धि प्राप्त कर ली थी।
- जिज्ञासु

पर मेहतर ने कहा अब जाति पांति का घमण्ड छोड़ो। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि शीघ्र ही तुम्हें अपने दाँतों से गाय का माँस और सुअर की चरबी काटनी पड़ेगी .... ब्राह्मण सिपाही इसे सुनकर क्रोध से भर गया और छावनी में गया। जब दूसरे सिपाहियों ने यह समाचार सुना तो वे भी क्रोध से लाल हो गये। ... बैरकपुर के सिपाहियों ने यह खबर सारे हिन्दुस्तान में फैला दी। हर हिन्दु और मुसलमान सिपाही अंग्रेजों से इस अन्याय का बदला लेने के लिये बेचैन हो गया। भारत में अंग्रेजी राज पृ0 ३२७)

बैरकपुर में क्रान्ति का आरम्भ

"सन् ५७ की क्रान्ति का श्री गणेश इस तरह बैरकपुर से हुआ। फरवरी सन् ५७ से बैरकपुर की १६ नम्बर पलटन को नये कारतूस उपयोग करने के लिये दिये गये सिपाहियों ने इन कारतूसों का प्रयोग करने से साफ इन्कार कर दिया। २६ मार्च सन् १८५७ पलटन परेड के मैदान में ... मंगल पाण्डे ने अपनी बन्दूक की गोली से तुरन्त सारजेन्ट मेजर हयूसन को वहीं ढेर कर दिया। (वही पृ0 ८३०)

आक्षेप नं0 ५ यह कि तात्याटोपे जून सन १८५८ से लेकर अप्रैल सन् १८५६ तक अर्थात् अपने जीवन के अन्तिम दिन तक नाना साहब के साथ कभी नहीं मिले क्योंकि १८ अप्रैल सन् १८५६ सिपरे के स्थान पर उसको फाँसी दे दी गयी थी तो नवम्बर सन् १८५६ में अर्थात् अपनी मृत्यु के ७ मास पीछे नाना साहब के साथ कन्या कुमारी में कैसे पहुंच गये?

आक्षेप नं0 ६ यह कि थियोसोफिस्ट के अनुसार और सच्चिदानन्द के अनुसार भी स्वामी दयानन्द फरवरी-मार्च सन् १८५७ में कानपुर के आस पास घूम रहे थे तो यो0 आ0 च0 के अनुसार बैरकपुर में गाय और सुअर की चरबी लगे हुए कारतूसों के आने के बाद धर्म संकट के कारण मंगल पाण्डे के क्षुब्ध होने पर उसको धर्म पर बलिदान होने के लिए आशीर्वाद देने के लिए फरवरी-मार्च सन् १८५७ को स्वामी जी बैरकपुर कैसे पहुंच गये? सावरकर के लिखने के अनुसार चरबी लगे कारतूस

फरवरी सन् १८५७ में ही बैरकपुर रेजीमेंट में गये थे। उससे पूर्व नहीं। अतः 'योगी का आत्मचरित्र' ऋषि दयानन्द के अपने हाथ से लिखे हुए थियोसोफिस्ट में छपी हुई आत्मकथा से सर्वथा विरुद्ध है।

मेरे लेखों का उत्तर सच्चिदानन्द जी ने 'आर्यमर्यादा' ११ व १८ मार्च सन् १६७२ में देने का ढोंग रचा है। जिसमें अप्रासंगिक और गौण बातों से पाठकों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है। मेरे ६ आक्षेपों में से ५ आक्षेपों को तो छुआ तक नहीं छटे आक्षेप को अपनी कल्पना के अनुसार घड़कर उसका उत्तर देने का नाटक रचा है। आपने उत्तर दिया है। यह कारतूस चरबी वाले ५७ में ही नहीं आये थे। भगवन्! इसका इतिहास है। पढ़िये- फिर योगी जी ने पूरे दो कालम ऐतिहासिक उद्धरणों से भर दिये।

जिनका मेरे प्रश्न से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। मेरा प्रश्न कारतूसों के इतिहास के सम्बन्ध में नहीं था। मेरा प्रश्न क्या था? योगी जी आँख और मस्तिष्क खोलकर पढ़िये? प्रश्न था। "इतिहास यह बतलाता है कि सैनिकों में चरबी लगी कारतूसों से उत्तेजना फरवरी सन् १८५७ में फैली।" मेरा इसमें जरा भी **संकेत नहीं कि मैं भारत में कारतूसों के आने की कहानी को पूछूं?** मैंने तो उन चरबी लगे कारतूसों का जिक्र किया था जो बैरकपुर छावनी में आ चुके थे।[1] और जिनके कारण मंगलपांण्डे धर्म संकट में पड़कर इतने उत्तेजित हो गये थे कि अपने प्राणों का बलिदान करने के लिये तैयार हो गये थे। सावरकर के लिखने के अनुसार वे कारतूस फरवरी सन् १८५७ में आये थे। जिनसे मंगलपाण्डे धर्म संकट में पड़ गये थे। उससे पहले की कोई ऐसी घटना नहीं जिससे मंगलपाण्डे को उत्तेजना मिली हो। सावरकर के लेख की पुष्टि डा0 सेन. ने अपने इतिहास 'अठारह सौ सत्तावन' में पृष्ठ ५० में इस प्रकार से की है।

---

1 दीनबन्धु सच्चिदानन्द योगी दोनों ही अप्रासंगिक बातें बनाकर झूठ की रक्षा करने में तत्पर रहे। - जिज्ञासु

बैरहमपुर में २६ फरवरी को विद्रोह हो चुका था, २६ मार्च को बैरहमपुर में एक और गम्भीर घटना घटी जिससे पता चलता है कि भय और आशंका के कारण सिपाही किस सीमा तक हताश हो चुके थे। मंगल पाण्डे ३४वीं इन्फेन्ट्री का एक नोजवान सिपाही था उसका अब तक का आचरण बहुत अच्छा था, किन्तु कुछ दिनों से वह हाल की घटी घटनाओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर रहा था। कुछ ही दिनों पूर्व दूसरी नेटिव इन्फेट्री ग्रिवेडिमर्स के दो सिपाहियों को राजद्रोह के षड्यन्त्र का अपराधी करार दिया गया था और उन्हें १४ वर्ष के कठोर परिश्रम का दण्ड दिया गया था .... धर्म के लिए १६वीं नेटिव इन्फेन्ट्री ने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया था। स्पष्ट है कि सिपाहियों के बीच इन बातों का काफी प्रचार हुआ और यह मान लेना गलत न होगा कि मंगलपाण्डे इन सारी घटनाओं से काफी प्रभावित हुआ था।"

इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि २६ फरवरी सन् १८५७ की घटना से प्रभावित होकर ही मंगलपाण्डे ने २६ मार्च को विद्रोह किया था। योगी जी ने ऐतिहासिक उद्धरणों का ढेर तो लगा दिया परन्तु यह सिद्ध करने में सर्वथा असफल रहे कि सन् १८५७ से पहले चरबी वाले कारतूसों से मंगलपाण्डे या और सिपाही उत्तेजित हुए हों। इसलिए मेरे ६ आक्षेप या योगी जी के ६ झूठ उनके सिर पर रखे हुए हैं। हज़ार शून्य मिलकर भी इकाई को नहीं बना सकते।

मेरा एक गौण सा आक्षेप यह भी था। कि स्वामी जी को धूनी रमाने वाला कहकर उनको दम्भी सिद्ध किया है। इसको मुख्य समझकर योगी जी ने उसके समाधान में आधा कालम भर मारा, परन्तु उसमें भी दो चार झूठ मिलाकर और भी जटिल बना दिया। योगी जी ने समाधान करते हुए स्वामी जी की उस अवस्था को अवधूत अवस्था बतलाया है। जो सर्वथा झूठ है। अवधूत अवस्था उसे कहते हैं जिसमें एक व्यक्ति सिवाय लंगोट के और कोई वस्त्र अपने पास न रखे। स्वामी जी की ऐसी अवधूत अवस्था सन् १८६७ से सन् १८७४ तक ७ वर्ष तक रही। उससे

आगे या पीछे स्वामी दयानन्द की अवधूत अवस्था नहीं रही। स्वामी जी ने स्वयं १८७५ में पूना में व्याख्यान देते हुए कहा था- "(कुम्भ के अवसर पर सन् १८६७) फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरोध करके भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिये मैंने सब कुछ छोड़कर केवल कौपीन (लंगोट) लगा दिया और मौन धारण किया। उस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था वह गतवर्ष बम्बई में आकर छोड़ा।" स्वामी जी के अपने कथन से बढ़कर उनके सम्बन्ध में और कौन सा प्रमाण हो सकता है? **इसलिये सच्चिदानन्द जी का यह काला झूठ और मिलाकर ७ झूठ हो गये।** स्वामीजी की स्वलिखित आत्म कथा से भी यह सिद्ध होता है कि उत्तराखण्ड की यात्रा में स्वामी जी वस्त्र धारण करते थे। देखिये- "१ (तुंगनाथ की यात्रा) कान्टों की तीखी वेदना से जिन्होंने मेरे शरीर के परिधान को तार तार कर दिया। २ (अलखनन्दा की यात्रा) मैंने शीघ्रता पूर्वक शरीर के ऊपरी भाग को विवस्त्र किया। जो भी वस्त्र मेरे पास थे उन्हें पैरों पर तलवों से, घुटने तक लपेट लिया। ३ (गढ़मक्तेश्वर में शव परीक्षा) पुस्तकों को एक तरफ रखकर और वस्त्र उतार कर निश्चय पूर्वक नदी में कूद पड़ा। ४ (चाण्डालगढ़ के पास नन्दी बैल की मूर्ति में घुसते हुए) मैंने वस्त्रों तथा पुस्तकों को उसकी पीठ पर रखा। ५ (नर्मदा के स्रोत की ओर जाते हुए) मैंने किसी प्रकार वस्त्र और चमड़ी के छेदन तथा रक्त स्राव एवं थकावट के मूल्य पर इस बाध ा को पार किया।" इन पांच प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि स्वामी जी सन् १८६७ से पहले कभी अवधूत अवस्था में नहीं रहे। सच्चिदानन्द ने उपर्युक्त घटनाओं को पढ़ा तो अवश्य है, परन्तु उन्होंने जान बूझकर जगह जगह यह झूठ बोला कि सन् 1855 से 1859 तक स्वामी जी अवधूत अवस्था में रहे।[1] जान बूझकर झूठ बोलना तो महापाप है जो सच्चिदानन्द जी के सिर पर जमा बैठा है।

1 न जाने सन् 1855 से 1859 तक ऋषि के अवधूत अवस्था का झूठ गढ़ने का प्रयोजन क्या था? ऋषि जीवन की घटनाओं को प्रदूषित करने के पाप में नये नये महात्मा आगे आने लगे हैं। - जिज्ञासु

धूनी रमाने की प्रामाणिकता में आनन्द स्वामी जी का उदाहरण दिया है जो प्रमाण कोटि में नहीं आता, क्योंकि "आप्तोपदेश: शब्द:" स्वामी आनन्द जी को कोई भी विद्वान् आप्त नहीं मानता। आप उनको प्रमाण मानते रहें तो यह आपका स्वार्थ है। क्योंकि आपकी इस जालसाजी में वे सब प्रकार से सहायक और प्रशंसक हैं।

'मन तुरा हाजी बिगोयम् तू मरा काज़ी बगो' 'परस्परं प्रशसन्ति अहोरूपमहो ध्वनि:' वाली बात है। अर्थात् मैं तुम्हें हाजी कहूं तुम मुझे काज़ी कहो।

आपने धूनी रमाने में अपने आपको भी प्रमाण रूप में पेश किया है। अपने मुंह मियां मिट्ठु बनना तो कोई भी बुद्धिमत्ता नहीं मानेगा। आठवां झूठ भी अपने सिर पर रख लिया। ९वाँ झूठ यह है कि आपने पौराणिक संन्यासियों को धूनी रमाने वाले बतलाया है। धूनी रमाने वाले वैष्णव सम्प्रदाय के वैरागी होते हैं। संन्यासी कभी धूनी नहीं रमाता चाहे वह आर्य समाजी हो या पौराणिक। सन्यासी के लिये मनु ने लिखा है:- 'अनग्निरनिकेत: स्यात्' अर्थात् संन्यासी को अग्नि और गृह के बिना रहना चाहिये।

यह महापाप है : महर्षि दयानन्द जी महाराज ने धूनी तपाने वालों को वैरागी और खाकी का नाम देकर उनकी निन्दा की है, सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में "पाषण्डिनो विकर्मस्थान०" मनु ४।३० की व्याख्या करते हुए लिखा है "(वकवृत्ति) जैसे वक एक पैर उठा ध्यानवस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वैसे आजकल के वैरागी और खाकी आदि हठी दुराग्रही वेदविरोधी हैं, ऐसों का सत्कार वाणी मात्र से भी न करें।" सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में इन धूनी तपाने वाले पाखण्डियों का चित्र इस प्रकार से खींचा है। "अब इनमें बहुत से खाकी लंगोटी लगा लकड़े की धूनी तापते, जटा बढ़ाते सिद्ध का वेष कर लेते हैं, बगुले के समान ध्यानावस्थित

होते हैं, गांजा, भांग, चरस के दम लगाते, लाल नेत्र कर रखते .... साधुओं को चार धाम फिर आना .... सन्तों की सेवा करनी, राम जी का भजन करना। जो किसी ने अविद्या की मूर्ति देखी हो तो खाकी जी का दर्शन कर आवें।'' फिर आगे लिखा है ''ये लोग बिना धूनी चिता रखनी .... सब दिशाओं में घूमते फिरने के अन्य कुछ भी काम नहीं करते, जो कोई पत्थर को भी पिघला लेवे परन्तु इन खाकियों की आत्माओं को बोध कराना कठिन है। .... खाकी रात दिन लक्कड़ छाने (कण्डे) जलाया करते हैं। एक महीने में कई रुपये की लकड़ी फूंक देते हैं। जो एक महीने की लकड़ी के मूल्य से कम्बल आदि वस्त्र लें तो शतांश धन से आनन्द में रहें।'' महर्षि दयानन्द जी ने इस विस्तृत लेख में धूना और धूनी रमाने वालों के पाखण्ड और मूर्खता की इतनी तीव्र आलोचना करके अन्त में धूनी रमाने से आर्थिक हानि भी बतलाई, परन्तु सच्चिदानन्द ने ऋषि दयानन्द के वचनों की अवहेलना करके उसको बड़ा उपयोगी सिद्ध करने की धृष्ठता की है। आनन्द स्वामी जी या सच्चिदानन्द जी ने ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त के विरुद्ध अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कपट मुनि बनकर ये सारे पाखण्ड किये हों तो समझ में आ सकता है? **परन्तु ऋषि दयानन्द को ऐसे पाखण्डों में लपेटना महापाप है। उन्होंने न कभी अपने सारे जीवन में धूनी रमाई ओर न किसी को प्रेरणा की।** स्वामी जी के जीवन का उद्देश्य चारों धामों में घूमना और तीर्थाटन नहीं था। इसलिये सच्चिदानन्द जी के कथनानुसार निरुद्देश्य होकर बिना नकेल के ऊँट की तरह कश्मीर से लेकर तिब्बत, नेपाल, आसाम, उड़ीसा मद्रास, लंका आदि स्थानों में स्वामी जी ने पर्यटन नहीं किया। परन्तु दीनबन्धु और सच्चिदानन्द ने ऋषि दयानन्द के चरित्र को ऐसे ही बेकार घूमने वाले पाखण्डी के समान दिखाने का प्रयत्न किया है।

सच्चिदानन्द जी की बोखलाहट

मेरे पहले ही लेख की चोट से योगी जी के होश उड़ गये और उन को दिशा भ्रम हो गया, अपने मार्ग को भूल गये। पहले अपने

अनुसन्धान के पृष्ठ १२५ पर जो यात्रा क्रम नेपाल, कलकत्ता, पुरी, नासिक, श्रृंगेरी, बंगलोर आदि बतलाया था, जिसका विस्तृत वर्णन दीनबन्धु जी ने (यो0 आ0 च0 पृ0 २३२) लिखा। "मैं नेपाल में आकर भी निराश हो गया। मैं एक वैरागी साधु के परामर्शानुसार कलकत्ता और नवद्वीप के प्रसिद्ध पण्डित और साधुओं से मिलने के लिये फिर कलकत्ता आने के लिये तैयार हो गया था और परिव्राजक साधुओं के साथ नेपाल से बंगाल के लिये प्रस्थान कर दिया था। मैंने कलकत्ता आते हुए मिथिला की हालत भी जान ली थी।" उसको बदलकर योगी जी उल्टी गंगा पहाड़ को चढ़ाने लगे और १८ मार्च सन् १६७३ के 'आर्यमर्यादा' में लिखने पर विवश हो गये, वहां लिखा है "अत: यही बात लगती है कि स्वामी जी जब नेपाल सितम्बर के मध्य या पहले नेपाल पहुँचे हैं। यह योगी जी के आत्मचरित्र से स्पष्ट है। वे नेपाल के 'काठमाण्डू से नैनीताल होकर जोशीमठ में गंगोत्तरी पहुँचे हों। और वहाँ से साधुओं के संगठन को सन् ५७ में सक्रिय करते हुए चिलकिया घाटी से द्रोण सागर पहुंचे। शीतकाल बिताकर कानपुर और अमर कंटक पहुँचे। अमर कंटक जंगल पार करते हुए कलकत्ता पहुँच कर रामेश्वर तक गये। जो भी हो ऋषि गंगोत्तरी से रामेश्वर तक गये अवश्य।" इन सन्दर्भों पर पाठक विचार करें कि पहले योगी जी की मान्यता यह थी कि यो0 आ0 च0 की सब बातें बिल्कुल ठीक हैं और उसके अनुसार पहले नेपाल से मिथिला होते हुए कलकत्ता पहुंचे थे, जो काठमाण्डू से लगभग चारसौ मील है और योगी की मान्यता के अनुसार कुल १० दिन का मार्ग था, परन्तु मेरे लेख का उत्तर देते हुए उस यात्रा-क्रम को छोड़कर काठमाण्डू से नैनीताल, जोशीमठ, गंगात्तरी, द्रोणसागर, कानपुर, अमरकंटक और फिर कलकत्ता पहुँचते हैं। यह मार्ग लगभग दो हजार मील का अवश्य है और इस मार्ग से सितम्बर सन् १८५६ से सितम्बर सन् १८५८ तक २ वर्ष का समय लगा। इस परिवर्तन को देखकर यह परिणाम अवश्य निकलता है कि मेरे प्रश्नों से योगी जी का मस्तिष्क अवश्य गड़बड़ा गया है। **कहाँ ४०० मील के**

स्थान में दो हजार मील का मार्ग और कहाँ १० दिन के स्थान में दो वर्ष का समय? और पहले यात्रा की दिशा नेपाल से दक्षिण पूर्व परन्तु मेरे प्रश्न के बाद यात्रा की दिशा पहले से बिल्कुल उलटी अर्थात् नेपाल से पश्चिम उत्तर। पहले कहते थे:- था था था' और अब कहते हैं- हों हों हों यह अवस्था योगी जी की अत्यन्त हार की निशानी है। न्याय दर्शन की परिभाषा में इसको निग्रह स्थान कहते हैं। निग्रह स्थान २६· प्रकार के होते हैं। उनमें से योगी जी के लेख में प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोध प्रतिज्ञा संन्यास और ५ हेत्वाभास मिलकर ६ निग्रह स्थानों में आकर योगीजी की पूर्ण पराजय हो चुकी। हुगली के शास्त्रार्थ में पं. ताराचरण तर्करत्न ने महर्षि दयानन्द जी के साथ शास्त्रार्थ में निग्रह स्थान में आकर अपनी हार स्वीकार की थी। यह उसकी शिष्टता थी, **परन्तु सच्चिदानन्द जी से यह आशा नहीं की जा सकती कि इतने निग्रह स्थानों में फँसकर भी वे अपनी गलती को स्वीकार करें।**

दीनबन्धु जी की निराशा

दीनबन्धु जी की अवस्था तो योगीजी की अवस्था से भी अधिक दयनीय हो गई। योगीजी 'आर्यमर्यादा' के उसी लेख में लिखते हैं "पं० दीनबन्धुजी लगे थे, परन्तु तूफाने बेतमीजी से निराश हो गये है। अत: निर्णीत बात तो नहीं कही जा सकती। पर फिर भी इतना स्पष्ट है कि गंगोतरी से बनारस तक की यात्रा थियोसोफिस्ट में है ही इसमें हो सकता है दोनों यात्राओं का सम्मिश्रण हो" क्या इस लेख को पढ़कर पाठकों को इस जोड़ी की परेशानी का परिचय नहीं मिलता? जो सच्चिदानन्द गर्वीली भाषा से गर्ज कर कह रहे थे "योगीराज दयानन्द ... गंगोतरी से पूर्व में गंगासागर तक और दक्षिण में रामेश्वर तक सर्वत्र भारत भू भ्रमण कर चुके थे। **यह यात्रा वर्णन सिवाय इस आत्मचरित्र के अन्यत्र कहीं नहीं है। अत: योगी का यही परमपावन विशुद्ध पवित्र आत्मचरित्र है"** उस सच्चिदानन्द को अन्त में मुँह की खानी पड़ी और जिस

थियोसोफिस्ट में छपी ऋषि की आत्म कथा को वह सन्दिग्ध और झूठी सिद्ध करने पर तुला हुआ था, उसी के सामने नतमस्तक होना पड़ा और उसका सारा गर्व मिट्टी में मिल गया। सच है जो मध्याह्न में पहुंचे हुए सूर्य पर थूकने की धृष्टता करता है, वह उसी के मुंह पर आकर गिरता है। यह सूर्य की भाँति प्रकाशित है कि गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक की यात्रा का वर्णन **'योगी का आत्मचरित्र'** में बिल्कुल नहीं है 'गंगोत्री से गंगासागर' तक यात्रा का अर्थ है गंगा के उद्गम स्थान से लेकर उसके किनारे किनारे होता हुआ उसके समुद्र से मिल जाने तक की यात्रा जो बाबू देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखित महर्षि के जीवन चरित्र में अप्रैल सन् १८६७ से अप्रैल सन् १८७३ तक में लिखी हुई है। दूसरी यात्रा गंगोत्री से रामेश्वर तक के सम्बन्ध में थियोसोफिस्ट में अक्तूबर सन् १८५६ से दिसम्बर सन् १८५७ तक अलखनन्दा से अमरकंटक तक पुष्ट प्रमाण सहित और अमरकंटक से रामेश्वर तक आनुमानिक सिद्ध है। परन्तु सच्चिदानन्द की मानी हुई परम पावन विशुद्ध आत्मचरित्र पुस्तक में दोनों यात्राओं का पता भी नहीं 'योगी का आत्मचरित्र' में पृ0 १ से लेकर पृ0 २४३ तक गंगोत्री से कलकत्ते तक यात्रा का वर्णन योगीजी निकालकर तो दिखलायें?

दीनबन्धुजी बेचारे रामजी की गाबड़ी हैं। उन्हें जब झूठे आश्वासन मिल रहे थे तो वे कल्पना के यान में आकाश में उड़ रहे थे परन्तु जब तर्क के एक ही तीर ने उनके काल्पनिक यान को धराशायी कर दिया तो आगे कल्पना के लिये आशा किस प्रकार से शेष रह सकती थी?

''सच्चिदानन्द जी का सबसे बड़ा और अक्षम्य अपराध''

यदि कोई व्यक्ति महर्षि दयानन्द जी के यावज्जीवन सिद्धान्तों, मान्यताओं, कर्त्तव्यों, कार्यों, लेखों और भाषणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके उनका सार निकालना चाहे तो वह इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि ऋषि दयानन्द का परमधर्म या यह कहिये कि उनका सर्वस्व 'सत्य' ही था।

ऋषि दयानन्द ने अपनी सर्वोत्कृष्टकृति सत्यार्थप्रकाश का शुभारम्भ जहां 'ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि' मन्त्र से किया वहां उस की सफल समाप्ति भी 'ऋतमवादिषं सत्यमवदिषम्' मन्त्र से की; सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास के पश्चात् स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में मनुष्यत्व की परिभाषा करते हुए ऋषिवर ने भर्तृहरि के 'निदन्तु नीति निपुणा' महाभारत के 'न जातु कामान्नभयात् न लोभात् धर्म त्यजेज्न जीवितस्यापिहेतोः' मनु के एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः और मु0 उ0 के 'सत्यमेव जयते नानृतं को लिखकर अन्त में यही लिखा:-

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्।

इनका अर्थ :- मैं अपने अन्तरात्मा से और वाणी से सत्य ही बोलूंगा। मैंने अपने अन्तरात्मा से और वाणी से सत्य ही कहा।

चाहे नीति निपुण लोग निन्दा करें या स्तुति करें। धनैश्वर्य आये या चला जाये आज ही मृत्यु हो जाए या युगान्त में। धीर पुरुष न्याय पथ से कभी विचलित नहीं होता। कभी भी कामवासना से, भय से, लोभ से धर्म को न छोड़े यहां तक कि जीवन की रक्षा के लिये भी धर्म का त्याग न करे। धर्म ही एक सच्चा मित्र है जो मरने के पश्चात् भी साथ जाता है शेष सब कुछ शरीर के साथ नष्ट हो जाता है। सत्य की ही सदा विजय होती है झूठ की नहीं।

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं, सत्य से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं इसलिये सत्य का ही आचरण करें।

इन प्रमाणों से सुविदित है कि ऋषि दयानन्द की सबसे प्यारी वस्तु 'सत्य' ही थी। परन्तु सच्चिदानन्द जी ने ऋषि के उस ही मर्मस्थल को निर्दयता से छेदने का कुत्सित प्रयास किया है वह कैसे?

इसको ज़रा कलेजा सम्भाल कर पढ़िये! अमरीका के कर्नल

अल्काट महाशय ने जो ऋषि दयानन्द को अपना परमगुरु मानता था ऋषि की प्रारम्भिक जीवनी के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जानना चाहा। ऋषि ने उसके सविनय आग्रह को स्वीकार करते हुए अपनी जीवनी का कुछ संक्षिप्त भाग स्वयं अपने हाथों से लिखकर और विश्वस्त व्यक्तियों से उसका अंग्रेजी में अनुवाद कराकर अल्काट महाशय को भिजवा दिया जिसको उसने अपने अंग्रेजी पत्र 'थियोसोफिस्ट' में फरवरी मार्च सन् १८८० में छपवा दिया अर्थात् ऋषि दयानन्द के निर्वाण से साढ़े तीन वर्ष पहले ही ऋषि ने स्वयं उसको पढ़वाकर सुना। उसको ठीक माना। ऋषि के अपने हाथों से लिखी हुई और सबसे अन्तिम जीवनी होने के कारण यह जीवनी सबसे अधिक प्रामाणिक जीवनी मानी जाती है। यही एक जीवनी है जिसके द्वारा विश्वभर के विद्वानों को ऋषि के प्रारम्भिक जीवन और उनके नामधाम, कुलगोत्र आदि का परिचय मिला। और इसी के प्रकाश को लेकर ऋषि के विस्तृत जीवन के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना सम्भव हो सका। परन्तु खेद है कि सच्चिदानन्द ने इस जीवनी को यह स्वीकार करते हुए भी कि यह जीवनी ऋषि दयानन्द के अपने हाथों से लिखी गई थी छल कपट और झूठ से भरी हुई कहा। इसको भ्रामक और सन्दिग्ध कहा।

सच्चिदानन्द जी ने २१ मार्च सन् १९७१ के सार्वदेशिक पत्र में 'भारतीय भ्रान्ति भंजन के शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें आपने लिखा था- हमारी मान्यता - भारतीय जी का आत्म कथन से अभिप्राय 'ज़न्मचरित्र' में है जो थियोसोफिस्ट में भेजा गया था, इस आत्म कथन का पर्यवेक्षण करना भी परम आवश्यक हो गया है -३- इस आत्म कथन को प्रो0 मैक्समूलर ने प्रामाणिक नहीं माना। सन्देह की दृष्टि से देखा। थियोसोफिस्ट के आंगल भाषा अनुवाद में अनेक लोग सन्देह करते हैं।

मैक्समूल और योगी : चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप।'' योगी जी इस कथन को इस लिये अप्रामाणिक और सन्दिग्ध मानते हैं क्योंकि

प्रोफेसर मैक्समूलर इस को झूठा मानता है। गोया योगी जी की दृष्टि में वही बात प्रामाणिक और सत्य होगी जिस पर मैक्समूलर की मोहर हो? खेद! खेद! खेद!

फिर आगे योगी जी लिखते हैं:- -४-थियोसोफिस्ट में नवम्बर दिसम्बर सन् १८८० में आत्मचरित्र छपा। ऋषि ने लिखा- यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरा स्वलिखित जीवनवृत जिसे आप अपने पत्र में प्रकाशित कर रहे हैं, पूर्ण हो जावे, पर अभी तक मैं उसके लिये अपेक्षित समय नहीं दे सका, परन्तु यथा सम्भव शीघ्र ही जीवन कथा भेजूंगा। इस से स्पष्ट है **जीवनवृत्त पूर्ण नहीं दे सके। इसके कारणों को खोजना चाहिये। केवल समयाभाव नहीं और भी?''**

सच्चिदानन्द जी इस सन्दर्भ को देकर सिद्ध करना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द जी ने थियोसोफिस्ट को अपना पूर्ण जीवनवृत्त जान बूझकर इस लिये नहीं दिया कि वे कर्नल पर सन्देह करते थे इसलिये उसको पूर्ण जीवन नहीं देना चाहते थे, परन्तु बहाना यह करते थे कि समयाभाव के कारण मैं जीवनवृत्त नहीं दे सका। आगे यथासम्भव शीघ्र ही जीवन कथा भेजूंगा' का वचन देना भी एक बहाना ही था। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि योगी जी ऋषि दयानन्द को एक बहानेबाज व्यक्ति सिद्ध करना चाहते हैं।[1] इस बात को सिद्ध करने के लिए योगी जी झूठ बोलने और कपट करने से भी नहीं चुके। ऊपर के लेख में ही योगी जी ने यह जोड़ा कि आत्मचरित्र थियोसोफिस्ट में नवम्बर दिसम्बर सन् १८८० में छपा, जब कि वास्तविकता यह है कि ऋषि का आत्मचरित्र अप्रैल सन् १८८० से पहले ही फरवरी मार्च में छप चुका था, इसलिये उनको अप्रैल १८८० में लिखना पड़ा कि ''यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरा स्वलिखित

1 योगी जी क्या जानें कि यह आत्म चरित 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक', 'आर्य समाचार' 'आर्य दर्पण' में भी ऋषि आगे कुछ लिख सकते थे। क्या अपनों पर भी उन्हें सन्देह था? योगी जी तो यह भी कह सकते थे। - जिज्ञासु

जीवनवृत्त जिसे आप अपने पत्र में छाप रहे हैं पूर्ण हो जावे'' आगे योगी जी लिखते हैं:- **''सन् ५७ के विद्रोह में भाग लेने वाला, पीछे भी राजाओं को संगठन के सूत्र में पिरोने वाला थियोसोफिस्टों को अपनी जीवनी सही शुद्ध रूप में कैसे दे सकता है?''** इस लेख से भी यही सिद्ध होता है कि योगी के कथनानुसार ऋषि दयानन्द ने थियोसोफिस्टों को अपनी गलत और अशुद्ध जीवनी दी। इससे आगे फिर योगी जी लिखते हैं:- **''आत्मचरित्र अत्यन्त संक्षिप्त अधूरा विदेशियों के राज्य में विदेशियों को इस प्रकार सुनाया कि कोई भेद न खुलने पाये, उसे ही प्रमाण मानना बुद्धि से बाहर है।''** इससे भी योगी जी यही प्रभाव डालना चाहते हैं कि ऋषि ने थियोसोफिस्टों को धोखा दिया। इससे आगे फिर लिखते हैं:- **'उस जीवन को पूर्ण एवं तथ्यांशपूर्ण कैसे माना जा सकता है?'**[1] गोया योगी जी की दृष्टि में वह जीवन चरित तथ्यांशपूर्ण नहीं अर्थात् झूठ से भरा है, इन उद्धरणों को पढ़कर एक सतर्क व्यक्ति सरलता से यह समझ सकता है कि सच्चिदानन्द जी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द का स्वलिखित आत्मचरित्र झूठा, गलत, अशुद्ध छलकपट पूर्ण और अप्रामाणिक है, अत: उसके लिखने वाले दयानन्द भी झूठे, गलत, अशुद्ध दम्भी और बहानेबाज व्यक्ति था, और वे विदेशियों पर सर्वथा विश्वास नहीं करते थे। प्रश्न यह उठता है कि सच्चिदानन्द जी ने ऐसा अनर्थ क्यों किया? मेरा उत्तर है कि स्वार्थवश ऐसा किया गया। जैसे एक स्वार्थी दुकानदार पड़ौसी के अच्छे माल को भी दोषपूर्ण बतलाता और अपने खोटे और रद्दी माल को भी बिल्कुल खरा और बढ़िया बतलाता है। ऐसे ही सच्चिदानन्द अपनी पुस्तक को सर्वोत्तम बतलाता है और दूसरी पुस्तकों को दोष पूर्ण कहता है। अपनी पुस्तक के

1 ऋषिवर ने अपने भक्त और जीवनी लेखक श्री गोपालराव हरि शर्मा को साधु आत्माराम का पत्र पाकर लिखा था कि थोड़ा सा भी असत्य सम्पूर्ण निर्दोषकृत को दूषित कर सकता है। ऐसी सोच वाला ऋषि क्यों थियोसोफिस्टों को अपने बारे कुछ असत्य लिखेगा। - जिज्ञासु

सम्बन्ध में वे अनुसंधान के पृ0 २८ में लिखते हैं:- "यह यात्रा वर्णन सिवाय इस आत्मचरित्र के अन्यत्र कहीं नहीं है अत: योगी का यही परम पावन विशुद्ध पवित्र आत्मचरित्र है थियोसोफिस्ट में छपा बहुत संक्षिप्त है।"

इससे आगे योगी जी स्वलिखित जीवनी को सन्दिग्ध और झूठी सिद्ध करने के लिये 'ऋषि के पत्र और विज्ञापन' से पत्र सं0 १८३, १८८, १७८ और १६६ के हवाले देकर थियोसोफिस्ट और अप्रैल १८८० पृ0 १६० को उद्धृत करते हैं:-

"Though I am very anxious that my autobiography which you are publishing in your journal should be completed, I have not yet been able to give the necessary time to it. But as soon as possible I will send the narrative to you"

आशंका कहाँ? : इन उदाहरणों का हिन्दी में अनुवाद किये बिना ही आगे जो परिणाम निकालते हैं वह इन उद्धरणों की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है। आप लिखते हैं:- "इन उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि स्वामी जी थियोसोफिस्टों को जीवनी देने के लिये बहुत उत्सुक नहीं थे। उनसे आशंकित थे।" सतर्क पाठक ऋषि के पत्रों को देखें कि उनमें **अनुत्सुकता और आशंका कहां है?** पत्र सं0 १८३—२७ अगस्त सन् १८७६ को लिखा- "कुछ थोड़ा सा जन्म चरित्र लिखकर भेजते हैं।

'हमारा शरीर दस्तों की बीमारी से बहुत दुर्बल हो गया था।' फिर पत्र सं0 १८८ में लिखते हैं:- "यह संक्षिप्त जीवन ८ मास की लम्बी बीमारी में लिखा गया।" पत्र सं0 १७८ – १३ जुलाई सन् १८७६ को लिखा" जहाँ तक मेरी जीवनी का सम्बन्ध है। मुझे कहना चाहिये कि इस समय मैं अधिक लम्बा विवरण देने में असमर्थ हूँ। मैं कुछ समय के पश्चात् अपने जीवन के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त विवरण दूंगा। मैं यह कार्य स्वयं करूंगा या अपनी देख रेख में कराऊंगा। प्रमाण-पत्र भी भेजूंगा

आगे पत्र सं0 १६६ – ६ नवम्बर सन् १८७६ ई0 को लिखा "कर्नल अलकाट साहब को मेरे शरीर का हाल विदित नहीं है कि दस मास तक तो दस्तों का रोग, पश्चात् एक बड़ा ज्वर आने लगा। सो तीन बार आकर छूट गया है अब दोनों रोग नहीं हैं परन्तु विचार करो कि इतने रोग के पश्चात् निर्बलता और सुस्ती कितनी हो सकती है। इसमें भी हमको कितने आवश्यक काम हैं जिसमें दम भर अवकाश नहीं मिल सकता। जो एक जन्म चरित्र के लिखाने का काम ही होता तो एक बार लिख-लिखवाकर भेज दिया होता।" ये चार पत्र स्वामी जी ने सन् १८७६ में लिखे। पहला पत्र १७८–१३ जुलाई का है जिसमें असमर्थता के कारण लम्बा विवरण न देकर संक्षिप्त जीवन भेजने का वचन दिया। दूसरा पत्र सं0 १८३ है जो २७ अगस्त सन् १८७६ का है जिसमें जीवनी लिख कर भेज देने का वर्णन है और अपनी दस्तों की बीमारी का वर्णन है। तीसरा पत्र सं0 १८८ है जो सितम्बर सन् १८७६ का है जिसमें जीवनी के भेजने और ८ मास की लम्बी बीमारी का वर्णन है। इन दोनों पत्रों से सिद्ध हो गया कि ऋषि ने अपनी जीवनी सन् १८७६ में ही लिखकर भेज दी थी जो १८७६ के अंतिम महीने में या १८८० के आरम्भ के महीने में छपाई थी। शेष जीवनी के लिए ६ नवम्बर सन् १८७६ के पत्र में ऋषि ने अपनी लम्बी बीमारी और कार्य की अधिकता का जिक्र किया। अन्तिम पत्र सन् १८८० का है जिससे स्पष्ट है कि ऋषि की कुछ जीवनी अप्रैल सन् १८८० से पहले छप चुकी थी और शेष के लिए पूरी उत्सुकता के साथ भेजने का वचन दिया परन्तु न भेज सके। अतः जो आत्म जीवनी अब विद्यमान है वह सन् १८७६ के अन्तिम महीनों या १८८० के आरम्भिक महीनों में ही थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेज दी गई थी।

थियोसोफ़िस्ट को सामग्री कब भेजी? : इन उद्धरणों से किसी प्रकार की अनुत्सुकता या आशंका प्रतीत नहीं होती प्रत्युत ऋषि दयानन्द के बहुत उत्सुक होते हुए भी १० महीनों तक संग्रहणी और दस्तों के रोग के कारण और कार्य की अत्यधिकता के कारण यथोचित समय

पर अपनी जीवनी न भेज सके। ऋषि के हृदय में उस समय तक थियोसोफिस्टों के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना, छल-कपट या सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ था। इसके प्रमाण में ऋषि दयानन्द के दो पत्र उद्धृत किये जाते हैं- एक पत्र ८ मई सन् १८७६ का है जो आर्यसमाज शाहजहाँपुर के मन्त्री के नाम है जिसमें ऋषि ने कर्नल अलकाट की प्रशंसा में लिखा है:- "उनके मिलने से सौ गुणी योग्यता प्रकट हुई। और अन्यत्र सभ्यता उनकी हमको प्रकट हुई। उक्त साहबों से जो हमारा समागम हुआ यह इस आर्यवर्त देश आदि देशों के उन्नति का कारण है ... उक्त साहबों का आचरण हमें अत्यन्त शुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि ये लोग तन, मन, धन से सब प्रकार से वेद मत की सहायता करने में उद्यत हैं।" दूसरा पत्र एक विज्ञापन के रूप में है जो मिति श्रावण वदी ५ सं0 १६३७ तदनुसार जुलाई सन् १८८० का दिया उसमें ऋषि ने लिखा:- "यह अद्भुत बड़ी बातें जिसकी सत्ता से हुई हैं अर्थात् ५ सहस्र वर्ष के पश्चात आर्यावर्तीय धार्मिक मनुष्यों और पाताल अर्थात् अमरीका निवासी मनुष्यों का वेदोक्त सनातन, सुपरीक्षित धर्म व्यवहारों में बान्धवीय प्रेम प्रकट किया है, उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा को कोटि कोटि धन्यवाद देता हूँ ... जैसा आपने कृपा से यह कृत्य किया है, वैसे भूगोलस्थ सब धर्मात्मा व विद्वान् मनुष्यों की उसी वेदोक्त सन्मार्ग से कीजिये इति ओ३म् मिति श्रावण वदी ५ सोमवार सं0 १६३७ (म0द0जी0च0 ४०६-४०७) इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द ८ मई सन् १८७६ से जुलाई सन् १८८० तक इन दोनों थियोसोफिस्टों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे उनको बान्धवीय प्रेम से अपना धर्म भाई समझते थे। उन दिनों में इनके ऊपर किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। उस समय जो पत्र व्यवहार ऋषि ने उनके साथ किया वह सर्वथा निश्छल और निष्कपट भाव से ही किया। और ऋषि दयानन्द की आत्मकथा भी २७ अगस्त सन् १८७६ और अप्रैल सन् १८८० के बीच में ही छपने के लिये थियोसोफिस्ट को भेजी जा चुकी थी। इसलिये उस जीवनी में ऋषि दयानन्द ने जो कुछ लिखा वह सर्वथा

निष्कपट और शुद्ध भाव से लिखा। १० सितम्बर १८८० में कर्नल अलकाट और मैडम ब्वेवैट्स्की मेरठ में गये। वहां उनके ऊपर सन्देह किया गया। दो तीन दिन तक ऋषि ने सन्देह निवृत्ति के लिए उनसे बातचीत की परन्तु सन्देह निवृत्त न हुआ। १२ सितम्बर को वे दोनों अमृतसर चले गये और उसी दिन ऋषि ने मेरठ में लाला रामशरणदास की कोठी पर अपने व्याख्यान में कह दिया, आगे हमारा सम्बन्ध थियोसोफिस्टों के साथ नहीं रहेगा। स्वामीजी ने सितम्बर सन् १८८० के पश्चात् अपनी जीवनी के सम्बन्ध में थियोसोफिस्ट को कोई लेख नहीं भेजा अतः **योगीजी का बार-बार यह लिखना ठीक नहीं है कि थियोसोफिस्ट को नवम्बर-दिसम्बर सन् १८८० में ऋषि की जीवनी लिखकर भेजी गई,** वह तो १० सितम्बर सन् १८८० ई0 से पहले ही लिखकर भेज दी गई थी। इन प्रमाणों से यह भली-भांति स्पष्ट हो गया कि ऋषि दयानन्द ने जिन दिनों में अपनी जीवनी थियोसोफिस्टों को लिखकर भेजी उन दिनों में ऋषि दयानन्द का थियोसोफिस्ट के प्रति पूर्ण सौहार्द था अतः उस निष्कपट, निश्छल, सरल हृदय, योगीश्वर दयानन्द ने थियोसोफिस्टों को कोई धोखा नहीं दिया और न ही उसने कोई संदिग्ध और अशुद्ध बात थियोसोफिस्टों को लिखकर भेजी। ऋषि ने जो कुछ लिखा वह सर्वथा शुद्ध और पवित्र था। निष्कलंक और निर्दोष था। **यदि सच्चिदानन्द जी को उसमें कुछ दोष छल-कपट या झूठ दिखाई देता है तो वह सच्चिदानन्द जी के हृदय की कलुषता का प्रतिबिम्ब ही दृष्टिगोचर होता है।** हमने ऋषि दयानन्द की इस स्वलिखित आत्मकथा को सर्वाधिक प्रामाणिक शुद्ध और पवित्र मानकर कसौटी के रूप में रखा और इस कसौटी पर 'योगी का आत्मचरित्र' को कसा तो यह आत्मचरित्र सर्वथा झूठा और मनघड़न्त कहानी पाया। ऐसा ही सब आर्य सज्जनों को मानना चाहिये।

विरोध है, क्यों नहीं? : मैं अपने पिछले लेखों में यह सिद्ध कर चुका हूं कि 'योगी का आत्मचरित्र' ऋषि दयानन्द के स्वलिखित

आत्मचरित्र के सर्वथा विरुद्ध है। इस बात को एक दूसरे प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है- सच्चिदानन्द जी ने ११ फरवरी सन् १६७३ के 'आर्यमर्यादा' में एक लेख लिखा है, उसमें आप लिखते हैं 'योगी का आत्मचरित्र' 'थियोसोफिस्ट, आत्मचरित्र' और पूना प्रवचन के स्वकथित आत्मचरित्र में कोई भी तो विरोध नहीं। घटनाओं के संक्षिप्त या विस्तृत उल्लेख का भेद है। घटनाओं की न्यूनता या अधिकता का भी। किन्तु किसी भी घटना में परस्पर विरोध नहीं है। हां घटनाएं परस्पर विरोधी या भिन्न समय की न लिखी गई हों।' यद्यपि मैं अपने पहले लेख में ही १६ नवम्बर सन् १६७२ के -आर्यमर्यादा' में दिखला चुका हूँ कि 'थियोसोफिस्ट' के अनुसार ऋषि दयानन्द ने सन् १८५५ के अप्रैल मास से लेकर अक्तूबर सन् १८५७ तक उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड और मैदानी क्षेत्र से बाहर एक कदम भी नहीं रखा।

परन्तु इसके विपरीत 'योगी का आत्मचरित्र' में ऋषि दयानन्द उत्तराखण्ड के कुछ स्थानों में केवल दो मास लगाते हैं शेष दो वर्ष ४ मास तक उत्तर प्रदेश में एक कदम नहीं रखते और थियोसोफिस्ट के अनुसार 'शिवपुरी' नाम के पर्वत पर जहाँ ऋषि ने शरद ऋतु के चार मास बिताये थे वहां 'योगी का आत्मचरित्र के अनुसार ऋषि एक पग भी नहीं रखते' बल्कि उन दिनों में ऋषि कश्मीर और लद्दाख के बीच में भटक रहे हैं **क्या यह समय और घटना का विरोध नहीं है?** एक दूसरा बड़ा भारी विरोध देखिये- सच्चिदानन्द जी इसी लेख में लिखते हैं- 'स० १६०३ में सिद्धपुर का मेला, बाईस वर्ष में घर से निकल पड़ा। सं० १६०४ (१८४७ सन्) में बड़ौदा चैतन्य मठ में केवल वेदान्त पर ही मेरा एक वर्ष का समय बीत गया 'पृ० ३३ यहां तक सहमति है।' इसमें सच्चिदानन्द जी ने तीनों आत्मचरित्रों में ऋषि की आयु और सम्वत् में सहमति प्रकट की है। आगे जो विरोध होता है, उसको देखिये-सम्वत् १६०४ में ऋषि की आयु २३ वर्ष की हो गई थी, उस समय ऋषि दयानन्द शुद्ध चैतन्य' ब्रह्मचारी के नाम से बड़ौदा के चैतन्य मठ में पढ़ते थे। पूना प्रवचन के

अनुसार ऋषि दयानन्द ने २३, २४ वर्ष की आयु में चाणोद में स्वामी पूर्णानन्द जी से संन्यास ग्रहण किया। २३, २४ वर्ष का अर्थ है २३ और २४ वर्ष के बीच में अर्थात् २३ वर्ष से अधिक और २४ वर्ष से कम। अब प्रश्न यह है कि बड़ौदा के बाद लगभग ८, १० महीने ऋषि ने कहां बिताये? थियोसोफिस्ट के अनुसार:-

At Baroda learning from a 'Benares woman that a meeting of the most learned scholar was to be held at a certain locality, I repaired thither at once, visiting a personage known as Sachidanand Paramahansa, with whom I was permitted to discuss upon various scientific and metaphysical subjects, from him I learned also that there were a number of great Sanyasis and Brahmcharis who resided at Chanod Kalyani. In consequence of this, I repaired to that place of sancity on the Bank of the Nerbada, and there at last met for first time with real Dikhits, or initiated Yogis, and such Sanyasis as Chidashrama and several other Brahmcharis. After some discussion, I was placed under the tution of one Parmanand, and several months studied 'Vedantsar', 'Arya harimihirs Totak', 'Vedant Paribhasha', and other philosophical treatises'.

अर्थात् बड़ौदा में एक बनारस बाई से यह सुनकर कि आस पास कहीं बहुत बड़े विद्वानों की एक सभा होने वाली है, मैं फौरन वहां पहुंच गया। वहाँ मैं सच्चिदानन्द परमहंस नाम के एक व्यक्ति से मिला और उससे मैंने भिन्न २ प्रकार के वैज्ञानिक और आध्यात्मिक विषयों पर बातचीत की। उससे मुझे यह भी पता चला कि चाणोद कल्याणी में बहुत से बड़े २ संन्यासी और ब्रह्मचारी रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप मैं नर्मदा के तट पर उस पवित्र भूमि पर पहुंच गया। और अन्ततः वहां पहली बार में वास्तविक दीक्षित योगियों से मिला। और चिदाश्रम जैसे संन्यासियों और ब्रह्मचारियों से भी मिला। कुछ वाद विवाद के पश्चात् मुझे एक विद्वान् परमानन्द के अध्यापकत्व में रखा गया और वहां मैंने कुछ महीनों तक वेदान्तसार 'आर्यहरिमिहिर तोटक' 'वेदान्तपरिभाषा' और दूसरे दार्शनिक

ग्रन्थ पढे।'' इससे आगे लिखा है कि ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य' (दयानन्द) ने चिदाश्रम से संन्यास की दीक्षा देने से इन्कार कर दिया, तथापि शुद्ध चैतन्य निराश नहीं हुआ। वहां लिखा है:-

"But I did not despair, several months later, two holy men, a Swami and a Brahmchari came from the Dakan and took up their abode in a solitary ... near Chanod.... And on the third day following he consecrated me into the order and naming me Dayanand Saraswati."

अर्थात् मैं निराश नहीं हुआ, कुछ महीनों पश्चात् दो दाक्षाणात्य साधु आये। उनमें एक संन्यासी था और दूसरा बह्मचारी। वे चाणोद के निकट ही जंगल में स्थित एकान्त खण्डहर में ठहर गये .... मेरा एक दक्षिणी मित्र मुझे अपने साथ लेकर उस दाक्षिणात्य स्वामी पूर्णानन्द के पास ले गया ... तीन दिन के पश्चात् मुझे संन्यासाश्रम की दीक्षा दे दी और मेरा नाम दयानन्द सरस्वती रख दिया।

इस सन्दर्भ से बिना किसी क्लिष्ट कल्पना के यह सिद्ध हो गया कि शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी बड़ौदा से चलकर झटपट स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस के पास पहुँच गया जो कहीं बड़ौदा के आस पास ही था, वहां उनसे वार्तालाप करके जल्दी ही चाणोद पहुंच गया और वहां स्वामी परमानन्द आदि से ८, १० महीने या लगभग एक वर्ष तक वेदान्त के ग्रन्थ पढ़ता रहा। लगभग एक वर्ष या ८, १० महीने इस लिये कहा गया कि उपर्युक्त सन्दर्भ में दो बार several (कुछ) शब्द आया है। अत: दो बार कुछ कुछ का योग इतना ही होता है। अब शुद्ध चैतन्य की आंयु चाणोद में ही लगभग २४ वर्ष की हो गई थी, क्योंकि बड़ौदा से चैतन्यमठ में उनकी आयु २३ वर्ष की हो गई थी। अत: चाणोद में लगभग १ वर्ष रहने के पश्चात् २४ वर्ष की आयु में संन्यास लेकर दयानन्द सरस्वती बन गये।

यही बात ऋषि दयानन्द ने पूना प्रवचन में कही, वहाँ लिखा है:-

"यहाँ एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्णशास्त्री भी थे, इनके पास मैं कुछ कुछ पढ़ता रहा, तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। २३ या २४ वर्ष की आयु में मुझे चाणूद कनाली में एक संन्यासी मिला उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास ले लिया।" स्वयं दीनबन्धु जी ने अपनी पुस्तक 'योगी का आत्मचरित्र' के पृष्ठ ४८ में लिखा है:- "मैं पूछताछ करके चाणोद पहुंच गया। अवस्था उस समय २३ या २४ वर्ष की थी।" इस प्रकार से तीनों आत्मचरित्रों का सर्वसम्मत निश्चय यही हुआ कि स्वामी जी २४ वर्ष की आयु तक अर्थात् सम्वत् १६०५ (१८४८) में चाणोद में रहे, चूंकि सं0 १६०४ (सन् १८४७) में एक वर्ष तक बड़ौदा चैतन्य मठ में रहे थे और स0 १६०५ (सन् १८४८) में चाणोद रहे, इसलिये स0 १६०४ व १६०५ में स्वामी जी बड़ौदा और चाणोद में ही रहे। **इन के बीच में कोई ऐसी गुंजायश नहीं कि स्वामी जी काशी आदि की लम्बी यात्रा कर सकें।** ऋषि दयानन्द के स्वलिखित और स्वकथित चरित्रों थियोसोफिस्ट और पूना प्रवचन से तो २३, २४ वर्ष की आयु में संन्यास लेने का हिसाब ठीक बैठ जाता है, परन्तु योगी का आत्मचरित्र से नहीं बैठता क्यों? यदि कोई काशी आदि में जाने की बात कहता है तो वह झूठा है और ऋषि दयानन्द का विरोधी है, ऋषि दयानन्द ने स्वयं अपनी कथनी और लेखनी से सिद्ध कर दिया कि वह २३ या २४ वर्ष की आयु के बीच में बड़ौदा और चाणोद ही रहे।

एक गप नहीं गपोड़ा : अब सच्चिदानन्द जी के लेख को पढ़िये जो ऋषि दयानन्द जी के कथन और लेख (पूना प्रवचन और थियोसोफिस्ट में छपा) के सर्वथा विरुद्ध है। आप लिखते हैं:- (१) सं0 १६०५ (१८४७–१८४६) में वाराणसी में अध्ययन कर नर्मदा तीर की ओर अग्रसर (२) **सं० १६०८ मध्य (सन् १८५२) नर्मदा यात्रा के उपरान्त चाणोद कनाली-व्यासाश्रम चाणोद कनाली में दयानन्द नाम तथा संन्यास दीक्षा।"** (आर्यमर्यादा ११ फरवरी सन् १६७३)

ऋषि के विरुद्ध कथन : अब पाठक ऋषि दयानन्द जी के अपने लेख और सच्चिदानन्द के लेख का मुकाबला करके देखें कि इन दोनों में कितना विरोध है। स्वामी दयानन्द जी सम्वत् १६०५ में चाणोद रहते हुए संन्यास लेने की बात कहते हैं परन्तु **योगी जी सम्वत् १६०५ में उनको वाराणसी में ही घेरे बैठे हैं** और फिर सम्वत् १६०८ में अर्थात् स्वामी जी के अपने कथन के (ढाई) वर्ष बाद संन्यास दिलाते हैं। यहां सच्चिदानन्द जी तीन बातों में ऋषि दयानन्द जी का विरोध कर रहे हैं। सच्चिदानन्द का मत- १-स्थान (वाराणसी) २-अध्ययन (जैन, बौद्ध और तान्त्रिकों आदि के ग्रन्थ) ३-संन्यास (२७–२८ वर्ष के अन्त में) परन्तु ऋषि दयानन्द जी चाणोद में ही वेदान्त के ग्रन्थों का अध्ययन करके २४ वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण करना कहते हैं। इन बड़े विरोधों के होते हुए भी योगी जी बड़ी ढिठाई के साथ कहते हैं कि:- 'योगी का आत्मचरित्र', 'थियोसोफिस्ट का आत्मचरित्र' और पूना के स्वकथित आत्मचरित्र' में कोई भी तो विरोध नहीं है। ऋषि दयानन्द इस प्रकार के चञ्चल चित्त व्यक्ति नहीं थे कि वे अपने वास्तविक उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति के साधन योगाभ्यास और मोक्ष ग्रन्थों का अध्ययन और योगियों के सम्पर्क को छोड़कर अयोगी पौराणिक पण्डितों, जैनियों, बौद्धों और तान्त्रिकों के सम्पर्क में रहकर लगभग २०० अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन में अपने अमूल्य समय को नष्ट करते। साधक के लिये इस प्रकार की चेष्टाएं अत्यंत अनर्थकारी होती हैं जैसा कि सांख्यकार ऋषि कहते हैं-

असाधनानुचिन्त नं बन्धाय भरतवत् । सां0 ४।८।।

अर्थात् जो कार्य योग का साधन नहीं है उसका बार २ सोचना बन्धन का कारण होता है, जैसा कि जड़ भरत के लिये ऐसा चिन्तन उसके बन्धन का कारण हुआ था।

महर्षि दयानन्द के बीसयों जीवन चरित्र छपे हैं, उनमें से किसी ने भी **ऋषि दयानन्द का काशी जाकर पढ़ने का संकेत तक नहीं किया।**

सभी जीवन चरित्र लिखने वालों ने सन् १८५५ में ऋषि दयानन्द का हरिद्वार के कुम्भ मेले में जाना लिखा है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब थियोसोफिस्ट आत्मचरित्र के अनुसार १ वर्ष बड़ौदा, १ वर्ष चाणोद कल्याणी ३ वर्ष योगानन्द, ज्वालानन्द पुरी, और शिवानन्द गिरी से योग सीखना और ३ वर्ष आबू पर्वत पर योगाभ्यास करना माना जाये। यह समय आठ वर्ष का होता है ऋषि दयानन्द सन् १८४६ में घर से निकले थे, ये आठ वर्ष मिलाकर सन् १८५४ के अन्त और सन् १८५५ के आरम्भ में हरिद्वार में पहुंचे थे परन्तु सच्चिदानन्द और दीनबन्धु के अनुसार घर से निकलने के पश्चात् ११ वर्षों के पश्चात् हरिद्वार में जाना होता है। अर्थात् १८५७ के पश्चात् जो सर्वथा असम्भव है।

योगी जी को ऐसा क्यों लिखना पड़ा, इसका कारण है 'चोर की दाढ़ी में तिनका'। योगी जी हृदय से 'थियोसोफिस्ट के आत्मचरित्र' के विरोधी हैं, इस बात को वे कई बार अपने लेखों में प्रकट भी कर चुके हैं। जिनको हम अपने पिछले लेख में सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु कट्टर आर्यसमाजियों के आक्रोश से बचने के लिये उनको यह कहना पड़ता है कि तीनों[1] आत्मचरित्रों में कोई विरोध नहीं है। योगी जी बार-बार संक्षेप और विस्तार की बात को कहकर पाठकों की आखों में धूल झोंकना चाहते हैं। परन्तु सजग आर्यसमाजी इस धोखे में नहीं आ सकता वह जानता है कि संक्षेप, विस्तार और विरोधी शब्दों का क्या अर्थ होता है? **'योगी का आत्मचरित्र' को विस्तार नहीं कह सकते। इसको ऋषि दयानन्द की जीवनी में भारी हेर फेर का नाम देना चाहिये।** २८ मई सन् १९७३ के हिन्दुस्तान में लिखा है:- "बिहार मन्त्री-मण्डल में भारी हेर फेर- १० नए मन्त्री आयेंगे ७ मन्त्री जायेंगे। यही बात दीनबन्धु जी ने 'योगी का आत्मचरित्र' में की है कि थियोसोफिस्ट के १८ स्थानों को

---

1 कल्पित पोथे को धक्के से स्वकथित व स्वलिखित आत्म चरित्र के साथ धक्के से जोड़ते हुए योगी जी बार बार तीनों की रट लगाकर जनता में भ्रम पैदा करना चाहते हैं। - जिज्ञासु

अपनी पुस्तक 'योगी का आत्मचरित्र' में से निकाल दिया और मनघड़न्त नये ६० स्थानों को भर दिया। योगी को तिल का ताड़ बनाने का एक बहाना मिल गया और वह इस तरह की थियोसोफिस्ट के अंग्रेज़ी लेख में जिसको हम ऊपर लिख चुके हैं, एक शब्द 'a Benares women' शब्द आ गया है। इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ है 'बनारसी बाई' और दूसरा अर्थ है 'बनारस की रहने वाली एक स्त्री।' इन में से योगी जी ने दूसरे अर्थ को लेकर तिल का ताड़ बना डाला है। सच्चिदानन्द जी कहते हैं कि 'स्वामी दयानन्द जी बड़ोदा से काशी ही गये, चाणोद नहीं' इस में तर्क देते हैं कि वह स्त्री काशी की रहने वाली थी अतः उसने काशी में होने वाली सभा का जिक्र किया था, और स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस भी काशी के रहने वाले थे इसलिये उनका मिलना काशी में ही हो सकता था अतः स्वामी जी अवश्य काशी ही गये थे।' परन्तु योगी का यह तर्क लंगड़ा है **क्योंकि सच्चिदानन्द योगी जी अपना पता 'अध्यक्ष श्री नारायण स्वामी आश्रम नैनीताल' लिखते हैं** तो क्या वे सब बातें नैनीताल की ही कहते हैं? और क्या वे नैनीताल में ही मिल सकते हैं और जगह नहीं? तो उत्तर होगा कि ऐसी बात नहीं, बल्कि योगी जी दूसरे स्थानों की बातें भी कह सकते हैं और दूसरे स्थानों में भी आ जा सकते हैं और मिल भी सकते हैं।" वास्तव में योगी जी 'वाक्छल' करने में बड़े निपुण हैं। वाक्छल की परिभाषा गौतम ऋषि ने इस प्रकार की है:- "अविशेषार्मिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।" अर्थात् साधारण बात (जिसके कई अर्थ हो सकते हैं) के कहने पर कहने वाले के अभिप्राय से उलटे अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है। ऐसा ही वाक्छल योगी जी ने किया है, क्योंकि ऋषि दयानन्द का अभिप्राय तो योगियों की खोज थी, न कि काशी में जाकर भिन्न भिन्न मतों के लगभग दो सौ ग्रन्थ पढने की। जिनके पढ़ने में १५-२० वर्ष लग जावें और 'धोबी का कुत्ता घर का रहे न घाट का' वाली कहावत चरितार्थ हो जावे। इसलिये ऋषि दयानन्द स्वामी सच्चिदानन्द

जी से मिलकर झट चाणोद पहुँच गये थे जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है।

सच्चिदानन्द की बात मानने से तो ऋषि दयानन्द के जीवन का उद्देश्य और सारा प्रोग्राम ही नष्ट हो जाता है। इसी कारण से ऋषि दयानन्द के जीवनी लिखने वाले किसी भी विद्वान् ने ऋषि का बड़ौदा से काशी जाकर पढ़ना नहीं माना। ऋषि दयानन्द सन् १८५७ से पहले काशी[1] नहीं गये।

काशी जाने में क्या असम्भावनाए हैं? पहली बात तो यह है कि आज से १२५ वर्ष पूर्व बड़ौदा से काशी जाना अत्यन्त दुष्कर था। उस काल में यातायात के कोई साधन नहीं थे। बड़ौदा से मिर्जापुर तक सतपुड़ा और विन्ध्याचल के पहाड़ों का सिलसिला चला गया है जो विकट वनों से भरा हुआ था उसको पार करने में लगभग एक हजार मील लगते थे और कई महीनों में काशी पहुँचा जा सकता था। इसके लिये 'I repaired thither atonce' (**मैं वहाँ पर फौरन पहुँच गया**) की बात कही ही नहीं जा सकती थी। दूसरे काशी में रहकर अनेक पण्डितों से अनेक सम्प्रदायों के लगभग २०० ग्रन्थों को पढ़ने में कम से कम १५–२० वर्ष लग सकते हैं। व्याकरण के आठ ग्रन्थ कात्यायन का वार्तिक, वाक्य प्रदीप, काशिका, न्यास पदमञ्जरी, सिद्धान्त कौमुदी, प्रक्रिया कौमुदी, मुग्ध बोध जैसे अनार्ष और जटिल ग्रन्थों को दो दो तीन-तीन बार पढने में कम से कम दस वर्ष लग जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने स्वयं सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में इनकी दुरुहता का वर्णन किया है और लिखा है कि अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे आर्ष ग्रन्थों के पढ़ने से तीन वर्ष में जितना ज्ञान होता है उनका इन अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने से ५० वर्ष में भी नहीं हो सकता। 6 दर्शन भाष्य सहित कई गुरुओं से कई कई बार पढ़ने और ११२ उपनिषदों के पढ़ने में गुरुओं के मुख से कम से कम तीन वर्ष, ५० के लगभग

---

1 ऋषि दयानन्द सन् १८५६ के भाद्रमास के अन्त में अथवा कुछ बाद काशी पहुँचे – जिज्ञासु

स्मृतियों के पढ़ने में 1 वर्ष। जैनियों के श्वैताम्बर और दिगम्बरों के जटिल ग्रन्थ, बौद्धों के महायान और हीनयान के अनेक ग्रन्थ और तान्त्रिकों के अनेक ग्रन्थ और क्रिया व चर्या में कम से कम तीन वर्ष। इस हिसाब से १७ वर्ष तो काशी ही में बीत जाते हैं और स्वामी जी की आयु काशी में ही ४० वर्ष की हो जाती है। इसके पश्चात् नर्मदा के उत्पत्ति स्थान अमर कंटक से चाणोद तक कम से कम १०० पौराणिक तीर्थों की यात्रा का वर्णन है जिसमें दीनबन्धु जी को पौराणिक गप्पों को कहने का खूब अवसर मिला है और इस यात्रा के अन्त में दीनबन्धु जी ने लिखा:- **''मैं पूछ पाछ करके चाणोद पहुंच गया। मेरी अवस्था उस समय २३ या २४ वर्ष की थी।''** पाठक जरा विचार करें कि दीनबन्धु जी और सच्चिदानन्द जी स्वामी जी की यात्रा बड़ौदा से आरम्भ कराते हैं, उस समय उनकी आयु २३ वर्ष की थी वहाँ से एक हजार मील की यात्रा करके काशी पहुँचे वहाँ २०० ग्रन्थ पढ़े फिर नर्मदा के किनारे पर पहुँचे और १०० तीर्थों की खूब खाक छानी, नरबलि का शिकार भी हुए। भूख के मारे जंगल में कई दिन पड़े रहे आखिर रीछ ने दया करके शहद का छत्ता लाकर दिया तो बच गये नहीं तो मर ही जाते, टांग टूटने में कई दिन तक गढ़े में गिर गये अनेक अद्भुत चमत्कार हुए। **परन्तु सबसे अधिक चमत्कार यह हुआ कि ऋषि की आयु वही २३, २४ वर्ष की ही रही।** पाठक स्वयं सोच लें कि योगी जी ये बातें जागृत अवस्था की करते हैं या स्वप्नावस्था की? स्वप्नावस्था में तो यह सम्भव है, परन्तु जागृतावस्था में असम्भव।

पं. लेखराम जी का नाम लेकर झूठ गढ़ा : अपनी झूठी कल्पना को सत्य सिद्ध करने के लिये सच्चिदानन्द जी 'सत्य के लिये प्राणों की आहुति देने वाले शहीदे सादिक पण्डित लेखराम जी' की गवाही देते हैं। आपने लिखा है:- ''बड़ौदा से बनारस ही गये थे।'' (इस विषय में १३ वें लेख में ७ प्रमाण दिये हैं और १६ वें लेख में पं० घासी राम जी के हिन्दी 'दयानन्द चरित्र से पूरे तीन उद्धरण दिये हैं)। इन १०

प्रमाणों की विद्यमानता में वह निर्विवाद सत्य है कि ऋषि बड़ौदा से बनारस गये थे।'' इन प्रमाणों में से पहले पं० लेखराम जी का प्रमाण आर्यमर्यादा ३–१२–७२ का देते हैं:- ''पृष्ठ ३८ पर आर्य मुसाफिर लिखते हैं:- सं० १९१८ की नर्मदा की दूसरी यात्रा थी' हमारा प्रश्न यही है कि पहली नर्मदा यात्रा कब की? उत्तर सुस्पष्ट है- **पहली यात्रा बड़ौदा के बाद बनारस होकर नर्मदा की यात्रा की।''** योगी जी का यह कितना घृणित झूठ है कि आप ही प्रश्न करते हैं और आप ही **उत्तर देकर उस उत्तर को पं० लेखराम के सिर मढते हैं।** पं० लेखराम जी से यदि प्रश्न किया जाता है कि पहली नर्मदा यात्रा कब की? तो उत्तर पं० लेखराम जी ने यह दे दिया था:- (नर्मदा तट तथा आबू पर्वत पर अनेक सच्चे योगियों से योग की शिक्षा)- चाणोद कल्याणी में प्रथम बार सच्चे दीक्षित विद्वानों से अध्ययन- बड़ौदा में एक बनारस की रहने वाली बाई से मैंने सुना कि नर्मदा तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक सभा होने वाली है। यह सुनकर मैं तुरन्त उस स्थान को गया, पहुंचने पर एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट हुई और उनसे अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुई .... फिर उन्हीं से ज्ञात हुआ कि आजकल चाणोद कल्याणी (जो नर्मदा नदी के तट पर स्थित है) में बड़े उत्तम विद्वान् ब्रह्मचारी और संन्यासियों की एक मण्डली रहती है। यह सुनकर उस स्थान को गया।'' (पृ० २६) इसको पढ़कर पाठक सोचें कि पं० लेखराम ने योगी जी की पुष्टि की है, या उसके झूठ का भांडा फोड़ा है? इसमें स्पष्ट लिखा है कि स्वामी जी बड़ौदा से चाणोद ही गये। इससे आगे योगी जी फिर पाठकों को धोखा देने का प्रयत्न करते हैं। आप लिखते हैं:-

आर्य मुसाफ़िर ने यह भी लिखा- ''नर्मदा के उत्पत्ति स्थान के दर्शन के बाद। दयानन्द तीन वर्ष तक नर्मदा के तट पर भ्रमण करते रहे थे। अनेक साधु महात्माओं से मिले थे।' इस पर पं० घासीराम जी टिप्पणी में लिखते हैं:- पं० लेखराम भी सत्यान्वेषी थे। वह कोई स्वकपोलकल्पित बात नहीं लिख सकते। इन्हें ऐसी सूचना किसी न किसी से मिली होगी।' म०द०जी०च० पृ० ८६ की टिप्पणी।

इस उद्धरण से भी योगी जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पं0 लेखराम बड़ौदा से बनारस जाकर नर्मदा के स्रोत को देखने गये थे और उस समय तीन वर्ष नर्मदा तट पर घूमे थे। पं0 घासीराम ने भी पं0 लेखराम के लेख की पुष्टि की थी। परन्तु योगी जी का यह बड़ा भारी धोखा है। इस धोखे को छुपाने के लिये पं0 लेखराम के अन्तिम शब्दों को छोड़ दिया। वे शब्द ये थे:- ''वह बुन्देलखण्ड से ही मथुरा आये थे।'' वास्तव में बात यह है कि नर्मदा के उत्पत्ति स्थान को देखने की घटना सन् १८५७ की है परन्तु योगी जी की ईमानदारी देखिये कि मथुरा के जिक्र को छुपाकर पाठकों को यह दर्शाना चाहते हैं कि पं0 लेखराम जी तथा पं0 घासीराम जी बड़ौदा की घटना का वर्णन कर रहे हैं जो सन् १८४७–४८ में घटी।' पण्डित लेखराम जी के लेख को पढ़िये। वे लिखते हैं:- ''२६ मार्च सन् १८५७ वृहस्पतिवार को वहाँ से आगे चल पड़ा और उस ओर प्रयाण किया जिधर पहाड़ियाँ थीं और जिधर से नर्मदा नदी निकलती है अर्थात् उसके उद्‌गम स्थान की ओर चला (यह नर्मदा की दूसरी यात्रा थी) ... **सारांश यह कि नर्मदा के उद्‌गम स्थान से लौटकर मैं विशेष विद्या प्राप्त्यर्थ मथुरा में आया। नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की और भिन्न भिन्न महात्माओं से सत्संग करता रहा।''** इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि यह वर्णन मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास जाने से पहले का है जिसमें ऋषि दयानन्द सन् १८५७ से सन् १८६० तक (तीन वर्ष) नर्मदा के तट पर घूमते रहे। इसमें सन् १८४८ की घटना का काई वर्णन नहीं है।

अब पं0 घासीराम जी की पुष्टि की बात लीजिये। देवेन्द्र बाबू ने पं0 लेखराम जी के उपर्युक्त लेख के अन्तिम भाग पर टिप्पणी की थी कि ''पण्डित लेखराम अपनी कल्पना के बल पर लिख गये हैं कि नर्मदा के उत्पत्ति स्थान के दर्शन करने के बाद दयानन्द तीन वर्ष तक नर्मदा के तट पर भ्रमण करते रहे और अनेक साधु महात्माओं के साथ मिले थे। वह बुन्देलखण्ड से ही मथुरा आये थे। इस विषय को पण्डित जी के

कपोल कल्पित होने के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते।'' इस टिप्पणी का विरोध करते हुए पं० घासीराम जी ने पण्डित लेखराम की पुष्टि की थी कि **''हम देवेन्द्रनाथ की इस सम्मत्ति से सहमत नहीं हैं। देवेन्द्र बाबू के समान पण्डित लेखराम भी सत्यान्वेषी थे।'' इससे स्पष्ट है कि पं० घासीराम जी की पुष्टि स्वामी जी के मथुरा जाने से पहले तीन वर्ष तक नर्मदा के तट पर भ्रमण के सम्बन्ध में है। इस पुष्टि का सम्बन्ध सन् १८४८ की घटना से नहीं। इसलिये स्वामी जी के बड़ौदा से बनारस जाने के लिए प्रमाणाभाव से योगी जी का झूठ सिद्ध हो गया।**

परन्तु योगी जी दो झूठ बोलने पर ही सन्तोष नहीं करते। वे झूठों का गठ्ठड़ खोलना आवश्यक समझते हैं। वे लिखते हैं:-

''बड़ौदा में बनारस की रहने वाली देवी से जाना कि इस समय काशी की रहने वाली स्त्री से मैंने यह सम्वाद पाया कि वहां पण्डितों की एक महासभा होगी। इस सम्वाद को पाते ही मैंने काशी की यात्रा की'' (आत्मकथा। गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशित। पृ० २६) योगी जी की दयनीय अवस्था है, 'डूबते को तिनके का सहारा'। गोविन्दराम हासानन्द एक बुकसेलर हैं, कोई गवेषक नहीं। और कोई प्रामाणिक विद्वान् भी वह नहीं माना जाता, तथापि योगी जी उसके गलत अनुवाद को ही प्रमाण मान बैठे हैं। थियोसोफिस्ट के अंग्रेजी लेख को मैं ऊपर उद्धृत कर चुका हूँ उसमें 'A Benares women एक बनारसी स्त्री' शब्द के अतिरिक्त कोई और ऐसा शब्द नहीं जिस से काशी जाने का संकेत मिलता हो। इस सम्बन्ध में ऊपर काफी लिख चुका हूँ। इसके अतिरिक्त योगी जी ने देवेन्द्र बाबू द्वारा लिखित बंगला दयानन्द चरित्र' से ४ सन्दर्भ दिये हैं, उन्हीं को बार-बार कई अंकों में उद्धृत करके प्रमाणों की संख्या दस लिख दी है। ये सन्दर्भ 'आर्यमर्यादा' के ३-१२-७२, २१-१-७३ और ११-२-७३ में दिये गये हैं-योगी जी ने जो चार सन्दर्भ 'बंगला दयानन्द चरित्र' में से

प्रमाण रूप से दिये हैं सो यह भी धोखा देने की बात है। क्योंकि आर्य समाज बंगला 'दयानन्द चरित्र को 'प्रामाणिक' नहीं मानता। आपने स्वयं अपने 'योगी का आत्मचरित्र' के पृष्ठ १५० पर लिखा है:- **"इसे कलकत्ता वास काल में गोविन्दराम हासानन्द ने छापा था। जिसे कलकत्ता आर्य समाज ने छापने से इन्कार कर दिया था।"** यह तो योगी जी के मुख से सिद्ध हो गया कि आर्य समाज 'बंगला दयानन्द चरित्र' को प्रामाणिक नहीं मानता था फिर भी बार-बार आर्य पाठकों के सामने उस **अप्रामाणिक ग्रन्थ के उद्धरणों को प्रमाण रूप में पेश करना धोखा नहीं तो क्या है?**

देवेन्द्र बाबू जी ने ही निरस्त कर दिया : देवेन्द्र बाबू ने स्वयं अपने उस ग्रन्थ को अप्रामाणिक कर दिया था। पाठक जरा इसको ध्यान से पढ़ें। और योगी जी के धोखे से बचें। देवेन्द्र बाबू ने सन् १८६४ में 'बंगला दयानन्द चरित्र' छपवाया था और पं० घासीराम ने १६१२ ई० में उसका अनुवाद भी किया था जिसको रघुवीर शरण दुब्लिस जी ने अपने छापेखाने में मेरठ में छपवाया था। परन्तु देवेन्द्र बाबू ने सन् १८६४ के पश्चात् लगभग १५ वर्ष तक कठिन परिश्रम करके सैंकड़ों स्थानों पर घूमकर हजारों रुपये व्यय करके नई सामग्री एकत्र करके एक सर्वांग सुन्दर महर्षि दयानन्द का नया जीवन चरित्र तैयार किया। उसके लिये बाबू देवेन्द्र नाथ ने स्वयं उस नये चरित्र की भूमिका में लिखा है:- "बन्धु वर्ग का यह आक्षेप निर्मूल भी नहीं है, क्योंकि गत १५ वर्ष के अधिक भाग को हमने दयानन्द सम्बन्धी कार्य में ही लगाया है, दयानन्द सरस्वती जी की जीवन कथा के कीर्तन करने, दयानन्द के एक सर्वांग सुन्दर जीवन चरित्र प्रकाशित करने के अभिप्राय से सामग्री और विवरण-माला के संग्रह करने में पूरे १५ वर्ष न भी लगे हों, पर इसमें सन्देह नहीं है कि १० वर्ष तो अवश्य ही लगे।" देवेन्द्र बाबू ने यह भूमिका सन् १६१६ में लिखी थी (संग्रह कर्त्ता)। देवेन्द्र बाबू ने 'सम्पादक भारत सुदशा प्रवर्तक' को १७-१२-१६१६ को बनारस से एक पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश इस

प्रकार है:- "मैंने जिस स्वामी जी के जीवन वृत्तांत के लिये बहुत वर्षों से घूम-घाम कर कुछ मसाला इकट्ठा किया और उसके साथ स्वामी जी का आदि नाम और जन्म स्थान निश्चय करके छोड़ा, उस पुस्तक को यहां बैठकर लिख रहा हूं वह एक बृहत पुस्तक होगी।" इस पुस्तक के सम्बन्ध में पं0 घासीराम जी ने अपनी भूमिका में लिखा:- देवेन्द्र बाबू प्रस्तावित दयानन्द चरित्र की भूमिका और पहले चार अध्याय ही लिख सके। वह ज्यों के त्यों प्रकाशित किये जाते हैं। इसके पश्चात् उन्हें सहसा अर्द्धाङ्ग रोग ने आ दबाया और उसी में उनका देहान्त हो गया .... सम्भवत: सन् १६१७-१८ में देवेन्द्र बाबू की संग्रहीत सामग्री प्राप्त की मैंने उन सब को पढ़ा, फिर आर्य भाषा में उनका अनुवाद किया और फिर उन्हें एक क्रम में रखा है।" देवेन्द्र बाबू के बंगला में लिखित सामग्री के आर्य भाषा के अनुवाद को ही आर्य साहित्य मण्डल अजमेर ने सं0 १६६० वि0 तदनुसार सन् १६३३ में 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित' के नाम से छपवाया। अत: देवेन्द्र बाबू का लिखा हुआ यही जीवन-चरित है जिसको आर्य समाज प्रामाणिक मानता है।

इस जीवन चरित के तृतीय अध्याय के पृष्ठ ७२ में देवेन्द्र बाबू लिखते हैं- "बड़ौदा में उनको एक स्त्री ने पहचान लिया अत: वह वहाँ से एक निकटवर्ती स्थान पर एक विद्वान् के सम्मेलन में चले गये। उस समय बड़ौदा अञ्चल में सच्चिदानन्द परमहंस नाम से एक तत्वज्ञान परायण और बहुत लोगों के श्रद्धा भाजन परमहंस रहते थे। शुद्ध चैतन्य इन परमहंस के पास जाकर नाना तत्वज्ञान विषयों पर वार्तालाप करने लगे। और सच्चिदानन्द के मुख से यह सुनकर कि नर्मदा के तीर पर चाणोद कर्णाली की पवित्र भूमि बहुत से साधु संन्यासियों की निवास भूमि है वह चाणोद कर्णाली को चल दिये।"

काशी लाने का प्रयोजन क्या : देवेन्द्र बाबू के इस लेख की चिंगारी से सच्चिदानन्द जी के प्रमाणों का घासफूस का ढेर

भस्मसात् हो जाता है। अब कोई ऐसा प्रमाण शेष नहीं रहता कि जिससे ऋषि दयानन्द का बड़ौदा से काशी जाना सिद्ध हो सके। योगी जी ऋषि दयानन्द के बड़ौदा से काशी जाने पर इतना बल क्यों देते हैं? इसलिए कि दीनबन्धु जी के एक बहुत बड़े झूठ का आधार स्वामी जी का काशी में जाना ही है। काशी में भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की सैकड़ों पुस्तकें पढ़ाने के साथ-साथ **दीनबन्धु जी ऋषि दयानन्द को तान्त्रिक ग्रन्थ अवश्य पढ़ाना चाहते थे,** क्योंकि बंगालियों को तान्त्रिक ग्रन्थ बहुत प्रिय हैं। उनको यह भी डर नहीं लगा कि स्वामी जी ने तो टिहरी की यात्रा में सन् १८५५ में स्वयं कहा और देवेन्द्र बाबू ने लिखा है:- **"दयानन्द तब तक कोई तन्त्र ग्रन्थ कैसे होते हैं यह भी उन्हें ज्ञात नहीं था।"** (म0द0जी0च0 पृ0 ७७) परन्तु दीनबन्धु जी और सच्चिदानन्द की कितनी धृष्टता है कि ऋषि दयानन्द के स्वलिखित चरित्र के विरुद्ध लिखते हैं कि ऋषि दयानन्द ने सन् १८४८ में अर्थात् टिहरी की यात्रा से ७ वर्ष पहले ही काशी में तन्त्र ग्रन्थों को पढ़ लिया था।[1] वे लिखते हैं:- "तांत्रिक साधु बेताल भैरव बाबा जी ने मुझे तन्त्रशास्त्रों के योग, क्रिया और चर्या को, शैवों के आगम को, शाक्तों के शक्ति तन्त्र को, वैष्णवों के विष्णु तन्त्र को, और बौद्ध जैनियों के अवैदिक तन्त्र को पढ़ाया।" यह ऋषि दयानन्द पर कितना बलात्कार है कि वे तो **कहते हैं कि मैंने सन् १८५५ में टिहरी में ही पहली बार तन्त्र ग्रन्थों को देखा,** उससे पहले मैंने तन्त्र ग्रन्थों को पढ़ना तो क्या उनका नाम भी नहीं सुना था, परन्तु दीनबन्धु जी तथा सच्चिदानन्द जी धींगा मस्ती करते हैं कि नहीं। दयानन्द १८५५ से ७ वर्ष पहले ही काशी में बेताल बाबा से तन्त्र ग्रन्थ पढ़े थे (दयानन्द झूठा है जो इन्कार करता है) इन धींगा मुस्तों का संरक्षण करने वाले बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित और नेता है- पं0 धर्म देव जी और आनन्द स्वामी आदि

1 ऋषि ने तन्त्र ग्रन्थों को यदि काशी में पढ़ लिया था तो फिर दो पोथियों को छाती से लगाकर क्यों घूमते फिरते? अन्ततः गंगा में डुबो दिया। देवेन्द्र बाबू जी का उपरोक्त कथन एक कठोर सत्य है - जिज्ञासु

लोग। थियोसोफिस्ट के आत्म चरित्र का इतना प्रबल विरोध करने पर भी योगी जी बार-बार यही रट लगाते हैं कि **'विरोध कुछ भी तो नहीं है।' योगी जी के इस कथन को झूठ न कहा जाए तो और क्या कहा जाए?**

यह सिद्ध हो जाने पर कि ऋषि दयानन्द बड़ौदा से काशी नहीं गये थे तो दीनबन्धु जी का वह सारा पाखन्ड जाल समाप्त हो जाता है जो उन्होंने 'योगी का आत्मचरित्र' के १५ पृष्ठों में (पृ0 ३३ से ४८ तक) फैलाया हुआ था, जिसमें भोली-भाली चिड़ियों को फंसाने के लिये सुन्दर और आकर्षक चित्र भी दिये थे, जिनमें एक ब्राह्मण बालक को काल भैरव को नर बलि देने के लिए पकड़ कर ले जाते हुए सजे हुए स्त्री पुरुषों को ढ़ोल बजाते हुए और गीत गाते हुए दिखाया है। दूसरे चित्र में उसकी जगह स्वामी दयानन्द को बलि के लिए तैयार दिखाया है और एक व्यक्ति उनकी गर्दन पर तलवार चलाने के लिए तैयार दिखाया है। एक जगह दयानन्द तीन दिन से भूखा और प्यासा लेटा हुआ है और दो रीछ दयार्द्र होकर उसके लिए शहद का छत्ता लेकर दयानन्द को दे रहे हैं। पौराणिकों को रिझाने के लिए १०० से अधिक पौराणिक तीर्थों का महात्म्य भी दिया गया। **मैण्डक बाबा के बोलने से वर्षा हो जाना आदि विस्मयकारक औपन्यासिक कथाओं का वर्णन भी दिया गया है।** यह सब पाखण्डजाल थियोसोफिस्ट के आत्मचरित्र, पं0 लेखराम के लिखे हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित्र, स्वामी सत्यानन्द लिखित श्रीमद्दयानन्द प्रकाश और देवेन्द्र बाबू द्वारा लिखित पं0 घासीराम द्वारा अनूदित तथा आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र आदि प्रामाणिक जीवन चरितों से छिन्न भिन्न हो जाता है। मैं अपने पठित और स्वाध्याय शील आर्य बन्धुओं से एक प्रश्न करता हूं कि साधारण आर्य समाजी तो यह नहीं जानते कि ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन काल में संस्कार विधि और सत्यार्थ प्रकाश कितनी बार छपवाए, परन्तु स्वाध्याय शील आर्य बन्धु यह अवश्य जानते

हैं कि ये ग्रन्थ ऋषि दयानन्द के जीवन काल में दो बार छपे थे। पहली बार जो संस्कार विधि और सत्यार्थ प्रकाश छपे थे उनमें कई कमियां रह गई थी, अतः ऋषि दयानन्द ने उनमें संशोधन करके और कुछ बातों को अधिक लिखकर उनको अपने ही यन्त्रालय में छपवाया। अब यदि कोई मनुष्य सीधे-सादे आर्य भाइयों को पहले छपे हुए सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि दिखाकर यह कहे कि सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे संस्करण से पहला संस्करण ही अधिक प्रामाणिक है क्योंकि पहले सत्यार्थ प्रकाश में मृतक श्राद्ध का वर्णन है तो उस व्यक्ति के सम्बन्ध में आर्य भाई क्या सोचेंगे? क्या उस व्यक्ति को ऋषि दयानन्द का या आर्य समाज का शुभ चिन्तक माना जाएगा? तो मेरे विचार में सच्चा आर्य समाजी ऐसे व्यक्ति को ऋषि दयानन्द और आर्य समाज का विद्वेषी ही समझेगा। सच्चिदानन्द जी ने भी यही काम किया है कि देवेन्द्र बाबू के १८६४ में लिखे हुए 'बंगला दयानन्द चरित को तो प्रामाणिक माना है और आर्य समाजियों में उसके प्रामाणिक होने का प्रचार भी करते रहे हैं, परन्तु उसके पश्चात् २२ वर्ष तक अनुसन्धान, सोच विचार, खोज और भ्रमण के पश्चात् देवेन्द्र बाबू ने जो संशोधित और परिवर्धित महर्षि दयानन्द का जो जीवन लिखा और उद्भट आर्य विद्वान् पं० घासीराम जी ने जिसका हिन्दी में अनुवाद किया और आर्य साहित्य मण्डल ने जिसको प्रकाशित कराया उसको प्रमाण नहीं मानते और उसको गलत बतलाते हैं तो ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में आर्य भाई स्वयं निश्चय करें कि वह व्यक्ति ऋषि दयानन्द और आर्य समाज का हितैषी है या विद्वेषी?

मैंने 'योगी का चरित्र' नाम की पुस्तक की आलोचना में 'योगी का आत्मचरित्र एक मनघड़न्त कहानी' के शीर्षक से ३० लेख 'आर्य-मर्यादा' के द्वारा जनता के सामने उपस्थित किये थे जिनमें प्रामाणिक इतिहासों, अकाट्य युक्तियों और ऋषि दयानन्द जी की स्वकथित और स्वलिखित आत्म कथाओं और महाबलिदानी पं० लेखराम जी तथा श्री देवेन्द्र बाबू जी द्वारा लिखी गई जीवनियों के आधार पर दीनबन्धु और सच्चिदानन्द

जी के मिले जुले षड्यन्त्र का पर्दाफाश कर दिया था। मैंने इन दोनों महानुभावों के सौ से अधिक सफेद झूठों को सिद्ध किया है जिनके प्रतिवाद करने का किसी को साहस नहीं हो सकता, इन लेखों में 'योगी का आत्मचरित्र' के दूसरे, पांचवें, छटे, और सातवें अध्यायों के वर्णनों की असत्यता स्थाली पुलाक न्याय से की है इस कसौटी पर पाठक शेष भागों की असत्यता को परख सकते हैं।

शेष तीन अध्याय शेष रह जाते हैं:- पहला तीसरा और चौथा। इनमें प्रथम अध्याय बाल्य जीवन यद्यपि बहुत गपोड़ों से भरा हुआ है तथापि उससे ऋषि दयानन्द और समाज के सिद्धान्तों को अधिक हानि नहीं पहुंचती, इसलिये उसकी उपेक्षा करते हुये तीसरे और चौथे अध्याय को लेता हूँ। तीसरे अध्याय में 'योग विद्या शिक्षा' और चौथे अध्याय में 'योग की विभूतियों' का वर्णन है। सच्चिदानन्द जी को इस योग के प्रकरण पर बहुत गर्व है और इसी की आड़ में वे 'योगी का आत्म चरित्र' के झूठों को छुपाना चाहते हैं। चूंकि आज कल के युग में भौतिक वाद ओर भोगवाद का प्राबल्य है इसलिए इस देश के अच्छे पढ़े लिखे लोग भी भारतीय दर्शनों और अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते इसलिये योगादि के नाम पर जो बात कही जाती है उस को आंख बन्द करके स्वीकार कर लेते हैं और 'सत्य वचन महाराज' कह देते हैं। ऐसी अवस्था में पाखण्डी लोग इन श्रद्धालु लोगों की अन्ध श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाते हैं और अपने को योगी, योगिराज महामहिम कहकर दोनों हाथों से लोगों को लूटते हैं।[1] **आर्य समाज में भी कई लोग ऋषि दयानन्द के योग का नाम लेकर जनता को धोखा देते हैं। इन बनावटी आर्य समाजियों में आनन्द स्वामी का नाम लिया जा सकता है ये इन पाखण्डियों के गुरु घन्टाल हैं।** इस जाली पुस्तक की छपाई में भी

---

1 आर्यसमाज के पुराने संन्यासी, महात्मा, विद्वान् भी योग साधना तो करते थे परन्तु, योगी योगिराज होने का ढोल नहीं पीटते थे। अब तो योग की परचून व थोक की कई दुकानें चल पड़ी हैं। कई योगगुरु, योग ऋषि व यागाचार्य घूम रहे हैं - जिज्ञासु

इनका पूरा योगदान है। किसी समय अवसर मिला तो ऐसे योगिराजों का भण्डा फोड़ भी करना पड़ेगा?

सच्चिदानन्द जी इस योग के प्रकरण को सर्वथा निर्दोष ही नहीं बल्कि आज तक लिखे गये सब योग भाष्यों में सर्वोत्कृष्ट भी मानते हैं। आप लिखते हैं:- "पातञ्जल योग की साधना-ऋषि दयानन्द के नाम से अज्ञात जीवनी में सारगर्भित ढंग से अत्यंत सरल आर्य भाषा में आई थी प्रामाणिक योग दर्शन की संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती आदि अनेक भाषाओं की विद्वानों में प्रसिद्ध पचासों टीकायें मैंने पढ़ी थीं। पर व्यास भाष्य, भोजवृत्ति, वाचस्पति मिश्र का विवरण, विज्ञान भिक्षु का भाष्य और योगवार्तिक आदि सभी टीकाएं पढ़ने पर योग और योग साधना के सम्बन्ध में मेरी पचासों शंकाएं निवृत्त नहीं हुई थीं शंकाएं वैसी की वैसी बनी रहीं, पर जब-जब सार्वदेशिक में प्रकाशित इस आत्मचरित्र को पढ़ा तो मेरी शंकाएं निर्मूल होती गई।"

इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यदि दीनबन्धु जी इस अज्ञात जीवनी को न खोज निकालते तो पतञ्जलि का योग दर्शन और उस पर लिखी गई सब टीकाएं और व्यास ऋषि जैसे विद्वानों के भाष्य और ऋषि दयानन्द द्वारा लिखे गये योग साधना सम्बन्धी लेख जो उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, संस्कार विधि, सत्यार्थप्रकाश और वेद भाष्य में यत्र तत्र लिखे हैं सर्वथा निकम्मे रह जाते! और योग नाम की वस्तु ही संसार से मिट जाती! धन्य हो! योगी जी! क्यों इतने अनर्थ पर कमर बान्धी हुई है। इस संसार में बहुत दिन नहीं रहना यह पुस्तक और इसकी कमाई यहां ही रह जायेगी! योग का झूठा गर्व न कीजिये, आपके योग का दिग्दर्शन भी करा दिया जायेगा। किसी लेख में श्री भवानी लाल जी ने अपनी स्वाभाविक सरलता से यह लिख दिया कि 'अज्ञात जीवनी के योग साधना प्रसंग को मैं निरापद मानता रहा' और कि 'मैं योग के सम्बन्ध में 'क' 'ख' भी नहीं जानता' इस पर योगी जी उनकी फबती उड़ाते हैं और

उन पर व्यंग कसते हैं। मैं नहीं जानता कि भवानी लाल जी 'योग' जानते हैं या नहीं? परन्तु उन्होंने अपने सरल स्वभाव से जो सत्य बात कही उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भवानी लाल जी योगी कहलाने वाले ऐसे योगियों से जो कदम कदम पर झूठ बोलते हैं अधिक योग जानते हैं। इनका यह सरल सत्य 'जावाल सत्यकाम' के सरल सत्य के समान है, जिस पर मुग्ध होकर गौतम ऋषि ने कहा था कि तू सचमुच ब्राह्मण है।

मैं पूरे उत्तरदायित्व के साथ कहता हूं कि सच्चिदानन्द जी योग बिल्कुल नहीं जानते, उनकी योग में किसी प्रकार की भी गति नहीं है। या यूं कहिये कि उन्होंने योग साधना रूपी सीढ़ी के पहले डण्डे को भी नहीं छुआ, बलिक उससे विमुख होकर भाग रहे हैं। यह कैसे? इसलिये कि अष्टाङ्ग-योग रूपी सीढ़ी का सबसे पहला डण्डा 'पांच यम' हैं। इनमें से दूसरा 'यम' सत्य है। परन्तु सच्चिदानन्द जी के लेखों में मैं कहीं भी सत्य की छाप नहीं देखता। मैं पिछले लेखों में उनके पचासों झूठ सिद्ध कर चुका हूँ। आगे और देखिये! 'योगी का आत्मचरित्र' की भूख से व्याकुल दयानन्द के लिये रीछ के द्वारा मधु का छत्ता आने और बाज द्वारा सांप से रक्षा करने की कल्पित कहानी पर भवानी लाल जी ने आक्षेप किया था, उसका समाधान करने के लिये योगी जी ने १२ नवम्बर १६७२ के 'आर्यमर्यादा' में लिखा है:- "यह आत्मचरित्र भूतेन्द्रियजयी तीसरी कोटि के सिद्ध योगी दयानन्द का है। ... अर्थात् भूतजय स्थिति सिद्ध हो जाने पर समस्त भूत प्राणी तथा प्रकृतियां योगी के संकल्प का ऐसे ही अनुसरण करती हैं जैसे बछड़े के पीछे गायें दौड़ती हैं .... तो क्या भालू और बाज के हृदय में "भगवान् उपस्थित नहीं है?" पाठक जरा स्मरण करें कि 'योगी का आत्मचरित्र' में भालू वाली कहानी उस समय की है जब कि दयानन्द अभी तक सन्यासी भी नहीं बना था। और ब्रह्मचारी चैतन्य के नाम से नर्मदा तट पर घूम रहा था, और उसकी आयु भी २३ वर्ष से कम थी योग सीखने के लिए अभी तक व्यास आश्रम के योगी योगानन्द के

पास भी नहीं गया था और न चाणोद में पूर्णानन्द सरस्वती से सन्यास ग्रहण किया था देखिये योगी का आत्मचरित्र पृ0 ४२–४८ भूतजय आदि विभूतियों का वर्णन इस घटना से ६ वर्ष पीछे होने वाली सिद्धि का फल ६ वर्ष पहले कैसे हो सकता है? तीन झूठ और हैं जो चित्र रूप में हैं जो सैकड़ों वर्षों तक झूठों की जीती जागती निशानी रहेगी। (१) पृ0 ६ पर दयानन्द लेटे हुए हैं भालू मधु का छत्ता लिये है दयानन्द अभी तक ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य ही हैं, परन्तु न सिर पर चोटी ओर न गले में जनेऊ। दूसरा चित्र पृ0 ४० के सामने है नर बलि के लिये ब्राह्मण के बालक के बदले अपनी बलि देने के लिये तैयार ४०–४१ पृष्ठों पर इस समय भी ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य ही हैं, परन्तु न सिर पर चोटी और न गले में जनेऊ। तीसरा चित्र पृ0 ४१ के सामने इसमें भी अवस्था ब्रह्मचर्य परन्तु शिखा सूत्र विहीन। इसके १ वर्ष के बाद पृ0 ४६ पर – "बहुत विचार के पश्चात् स्वामी पूर्णानन्द ने मुझे संन्यासाश्रम में दीक्षित कर दिया तब से मेरा नाम हो गया स्वामी दयानन्द सरस्वती।" ये चित्र सच्चिदानन्द के झूठ की मुंह बोलती तस्वीर है, इन बातों से पाठक सोच लें कि सच्चिदानन्द जी की योग में कहां तक गति है। भवानी लाल जी ने योग साधना के पहले डण्डे को छू तो दिया परन्तु **योगी सच्चिदानन्द तो उससे उलटा दौड़ रहे हैं! याद रखिये जो मनुष्य झूठ बोलता है या झूठ का समर्थन करता है वह योगी कदापि नहीं हो सकता।**

स्वामी दयानन्द का योग

यद्यपि दीनबन्धु जी तथा सच्चिदानन्द 'यो0 आ0 च' के तीसरे और चौथे अध्याय को ऋषि दयानन्द जी के मुख से निकली हुई वाणी कहते हैं, परन्तु यह कहना सर्वथा झूठ है। ऋषि दयानन्द का कहा हुआ तो क्या यह तो स्वामी जी के सिद्धान्त के भी सर्वथा विरुद्ध ही है। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं अपितु व्यास भाष्य और भोज वृत्ति के भी विरुद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीनबन्धु जी ने आर्य समाज

कलकत्ते का पुरोहित रहते हुये कुछ नोट इधर-उधर की पुस्तकों और अखबारों से इकठ्ठे किये और समय-समय पर योग के सम्बन्ध में व्याख्यान देते रहे और कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा करके अपनी इस पुस्तक में लिख मारा और सच्चिदानन्द जी ने इसको छपवाकर इसका ढिंढोरा पीटा और सीधी साधी जनता पर प्रभाव डालने के लिए अपने कई फोटो और उपाधियां साथ में लगा दीं। मैं सत्य कहता हूँ कि सच्चिदानन्द जी यह भी नहीं जानते कि ऋषि दयानन्द का योग क्या था? वे अपनी और बहुत से **दम्भी साधुओं की तरह यही समझते हैं कि स्वामी दयानन्द भी ऋद्धि सिद्धि और विभूतियों को योग मानते थे** और इन्हीं के लिये उन्होंने योग याधना की थी। परन्तु यह निरा भ्रम है। इसलिये मैं यह बतला देना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि ऋषि दयानन्द का योग क्या था?

यह सब जानते हैं कि ऋषि दयानन्द ने अपने पितृगृह का परित्याग क्यों किया था? इस तीव्र वैराग्य के दो मुख्य उद्देश्य थे- एक परमात्मा का साक्षात्कार ओर दूसरा जन्म-मरण से छूट जाना। इन्हीं दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये पूर्ण परिश्रम किया। साधु महात्माओं के पास गये, अपनी व्यथा सुनाई। साधु महात्माओं ने उनको यह सम्मति दी कि योग साधना ही एक ऐसा उपाय है जिस से ईश्वर का साक्षात्कार भी हो सकता है और जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा अर्थात् मोक्ष भी मिल सकता है। योग साधना के लिये योग सम्बन्धी साहित्य को पढ़ना आवश्यक था। और साथ ही आध्यात्मिक साहित्य भी। योग सम्बन्धी साहित्य में पातञ्जल योग दर्शन और हठयोग प्रदीपिका आदि कई ग्रन्थ पढ़े और अध्यात्म सम्बन्ध में वेदान्त के बहुत से ग्रन्थ भी पढ़े। योग सम्बन्धी ग्रन्थों में पातञ्जल योग शास्त्र को सबसे अच्छा पाया पातञ्जल योग शास्त्र की कई टीकाएं और भाष्य पढ़े और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि योग के सब भाष्यों में व्यास भाष्य ही सर्वोत्तम भाष्य है। इस लिये उसी को समझने के लिये योगाचार्यों की शरण ली।

ऋषि दयानन्द का योग

मैं पूर्व लेख में लिख चुका हूँ कि महर्षि दयानन्द ने पितृगृह का सदा सर्वदा के लिये परित्याग इसलिये किया था कि ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सके और जन्म-मरण के बन्धनों से छूटकर मुक्ति के आनंद की प्राप्ति की जा सके। इन दोनों लक्ष्यों की सिद्धि के लिये दो साधन अत्यन्त आवश्यक थे- १. मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और दूसरा क्रियात्मक योग साधना। मोक्ष शास्त्रों में वेद, उपनिषद् और योग दर्शन आदि ग्रन्थों की गणना है। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद सम्पूर्ण और दूसरे वेदों के कुछ कुछ भाग तो पितृगृह में रहते हुए १४ वर्ष की आयु तक ही पढ़ लिये थे। घर का त्याग करके स्वामी दयदान्द जी १ वर्ष तक बड़ौदा के चिदाश्रम में रहकर वेदान्त शास्त्र का अध्ययन करते रहे थे। बड़ौदा से चलकर स्वामी जी ने चाणोद में जाकर स्वामी परमानन्द जी से वेदान्त विषय के कई ग्रन्थ पढ़े थे। संन्यास लेने के पश्चात् दयानन्द जी ने व्यास आश्रम के सिद्ध योगी स्वामी योगानन्द जी से पातञ्जल योग शास्त्र पढ़ा 'और योगाभ्यास भी आरम्भ कर दिया' अब विचार करने की बात यह है कि स्वामी जी ने योग साधना के लिये किसी विधि विधान का आश्रय लिया, या जो कुछ सामने आ गया वही करना आरम्भ कर दिया? ऐसी बात नहीं है कि उन्होंने किसी विधि का सहारा न लिया हो, क्योंकि बिना विधि के किसी भी कार्य में सफलता मिलनी असम्भव है। विधि क्या है? इसका वर्णन स्वयं स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में इस प्रकार किया है:- प्रश्न-मुक्ति के क्या साधन है।? उत्तर ... साधन चतुष्टय प्रथम विवेक ... दूसरा साधन वैराग्य ... तीसरा साधन षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति तितिक्षा श्रद्धा और समाधान) ... चौथा 'मुमुक्षत्व' अर्थात् जैसे क्षुधातृषातुर को सिवाय अन्नजल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे बिना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होगा। ये 'चार साधन' और चार अनुबन्ध ... करने होते हैं। अनुबन्ध चतुष्टय-प्रथम 'अधिकारी' ... दूसरा 'सम्बन्ध' ... तीसरा 'विषयी' ... चौथा 'प्रयोजन'

... ये चार अनुबन्ध कहाते हैं। तदन्तर 'श्रवण चतुष्टय'-

१ - 'श्रवण' जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब शान्त ध्यान देकर सुनना, विशेषकर ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। सुनकर दूसरा 'मनन' एकान्त देश में बैठके सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शंका हो पुनः पूछना और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना, तीसरा 'निदिध्यासन' जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह हो जाये तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना था विचारा था, वैसा ही है या नहीं, ध्यान योग से देखना। चौथा- 'साक्षात्कार' अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव है वैसा याथातथ्य जान लेना, श्रवण चतुष्टय कहलाता है। इसी विधि के अनुसार दयानन्द जी ने गुरुजनों से मोक्ष शास्त्रों का श्रवण और अध्ययन किया। तत्पश्चात् एकान्त में बैठकर उस सुने हुए और पढ़े हुए पर विचार किया। पातञ्जल योग शास्त्र पर मनन करते हुए उसमें उन्हें दो मार्ग दिखाई दिये- एक मार्ग अभ्युदय की ओर ले जाने वाला और दूसरा निःश्रेयंस की ओर ले जाने वाला। इनमें से पहले मार्ग को योग दर्शन में सम्प्रज्ञात, सविकल्प और सबीज समाधि के नाम से पुकारा गया है, और दूसरे को निर्विकल्प, निर्बीज और असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से पुकारा जाता है। उपनिषदों की भाषा में पहले को प्रेय और दूसरे को श्रेय के नाम से बोला जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति और प्रकृति जन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा चित्त की वृत्तियों को एकाग्र किया जाता है और उन पदार्थों को अपने अनुकूल बनाकर उनसे सांसारिक सुख या अभ्युदय प्राप्त किया जाता है। इन ही भिन्न भिन्न प्रकार के सुख और ऐश्वर्यों को विभूतियों और सिद्धियों का नाम दिया जाता है। परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति और प्रकृति जन्य पदार्थों से विरक्त होकर

ईश्वर के वाचक प्रणव (ओ३म्) में धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके अन्त में उसके वाच्य ईश्वर के स्वरूप में अपने आपको लय कर देना और उसका साक्षात्कार करना होता है। इसके साथ ही प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद करके जन्म-मरण के दु:खों से छूटकर मुक्ति की उपलब्धि और परमात्मा का साक्षात्कार सिद्ध हो जाते हैं। ऋषि दयानन्द जी ने नचिकेता की भाँति सब प्रकार के ऐश्वर्यों और ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभनों को छोड़कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने और ईश्वर का साक्षात्कार करने के मार्ग को ही वरण किया। अच्छी प्रकार से मनन और विचार करने के पश्चात् उन्होंने जिस मार्ग को चुना था उसी के 'निदिध्यासन' में उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी और अनेक सिद्ध योगियों के सानिध्य में रहकर उग्रतप, अखण्ड ब्रह्मचर्य, अप्रतिम श्रद्धा और विशुद्ध ज्ञान के आलोक में साधना के उच्चतम शिखर पर पहुंचकर जीवन मुक्त की अवस्था प्राप्त कर ली और उस जीवन मुक्तावस्था में ही संसार में रहते हुए जगत् के कल्याण में अहर्निश संलग्न रहते हुए भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' जल में कमल पत्र के समान अलिप्त रहकर अन्त में मृत्युञ्जयी होकर ईश्वर का साक्षात्कार करके मोक्षपद को प्राप्त हो गये।

मैंने मुमुक्षु दयानन्द के मुक्ति साधनों का क्रम उन्हीं की भाषा में वर्णन करके यह बतलाया कि उन्होंने उन साधनों का उपयोग करके मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया, परन्तु दीनबन्धु जी और सच्चिदानन्द जी कहते हैं कि स्वामी दयानन्द जी ने न तो मोक्ष के लिये साधना की और न उन्होंने मुक्तिपद को प्राप्त किया। इसके विपरीत वे तो प्रारम्भ से ही विभूतियों के चक्कर में फंस गये थे। ६ वर्ष तक उन्होंने केवल विभूतियों के लिये साधना की परन्तु उनमें भी वे पूर्णरूप से कृतकार्य न हो सके। विभूतियों की सिद्धि प्राप्त करने वाले ४ प्रकार के योगियों में वे दूसरे दर्जे तक पहुँच पाये। दीनबन्धु जी उन्हीं के मुख से कहलवाते हैं:- "स्थिति से योग और योगी चार प्रकार के हैं। प्रथम- योग शिक्षा के विषय में जो लोग बिल्कुल नये हैं और जो लोग योग में अविचलित और दृढ़ नहीं हुए

हैं .... इस प्रकार के योगी का नाम "प्राथम कल्पिक है" दूसरे-जो लोग प्राथम कल्पिक अवस्था का अतिक्रम करके मधुमति नाम को द्वितीय अवस्था को प्राप्त हुए हैं। ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा लाभ करके भूत और इन्द्रियों को वशीभूत किये हैं और सर्वभावों के अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व लाभ के लिये यत्नशील हैं- **इस प्रकार के** योगी का शास्त्रीय नाम "मधुभूमिक" है।

तीसरे- जो लोग मधुभूमिक अवस्था को अतिक्रमण करके विभूति या ऐश्वर्य लाभ के लिये प्रलुब्ध नहीं है और स्वार्थ संयम में यत्नवान हैं- इस प्रकार के योगी का नाम 'प्रज्ञाज्योति' है।

ऋषि का अवमूल्यन : चौथा- जो लोग इस प्रज्ञाज्योति स्थिति को अतिक्रमण करके अत्यधिक विवेक ज्ञान के अधिकारी हुए हैं जो लोग विवेक ज्ञान के स्थूल फल के लिये लोभी नहीं हैं और समाधिकाल में जिनको किसी प्रकार की विघ्नबाधा बिलकुल नहीं पड़ती और जो जीवन मुक्त हैं इस प्रकार के योगी का नाम 'अतिक्रान्त भावनीय" है। इन चार प्रकार के योगियों में ऋषि का कौन सा स्थान था? इसका ऋषि के मुख से वर्णन कराया है। वहाँ लिखा है:- **"गुरु लोगों ने हर्ष प्रकट करके सब ही तरह के उपदेश दिये थे- तुम द्वितीय श्रेणी के योगी बन गये हो।** दयानन्द! दूसरे दिन वे लोग वहां से चले गये। मैं आबू छोड़कर हरिद्वार के कुम्भ मेले में जाने के लिए तैयार होने लगा।" इसके पश्चात् पाठकों को याद होगा कि दीनबन्धु जी ने दयानन्द को पांच वर्ष तक निरन्तर यात्रा के चक्कर में रखा और उसको फिर ऐसा अवसर न दिया कि वह योग में पूर्णता को प्राप्त करके अपने प्रभु का साक्षात्कार कर सकें। दीनबन्धु जी के वकील सच्चिदानन्द जी कहते हैं:- "इसी योगी परम्परा में योगी दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य इनका लोक विख्यात है। भूतजयी श्रेणी में अभ्यास चालू था।" दीनबन्ध जी के अनुसार गोया योगी जी अभी तक दयानन्द को भूतों के जाल में

फंसा हुआ बतला रहे हैं और ईश्वर के साक्षात्कार करने का उनको अवसर ही नहीं देते।

इसके मुकाबले में कृष्ण के जीवन को रखते हुए कहते हैं:- ''योगीराज भगवान् कृष्ण सिद्ध योगी थे। आपको कायसम्पत् प्राप्त थी। आठों महासिद्धि के सिद्ध स्वामी थे। ... अवतारी महापुरुष थे।'' अवतार शब्द की व्याख्या करते हुए योगी जी कहते हैं:- ''ब्रह्म इनके आत्मा में उतरा हुआ था। ये समाधिस्थ रहते थे। ब्रह्म दर्शन करते थे। व्युत्थान दशा में भी ब्रह्म साक्षात् रहता था, ब्रह्म हर समय उतरा रहता था इसलिये ये अवतार थे।''[1] (यो0आ0च0 पूर्वाद्ध पृ0 १६) इस सन्दर्भ से आर्य भाइयों को वास्तविकता का पता होना **चाहिये कि यह जोड़ी जनता पर यह प्रकट करना चाहती है कि दयानन्द एक बहुत घटिया दर्जे का योगी था, उन्होंने तो भगवान का साक्षात्कार भी नहीं किया था विभूतियों के बारे में भी अभी बीच में ही लटके हुए थे।** इन लोगों ने इधर उधर की बहुत सी चमकीली दमकीली बातों से आर्यों की आँखों को चकाचौंध करके ऋषि दयानन्द के योग की उच्चता को ढकना चाहा है। योगी जी स्वामी दयानन्द के मुख से कहलवाते हैं:- 'मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूं। केवल मध्यम कोटि का हूं' इन अधूरे वाक्यों को देकर सच्चिदानन्द जी महर्षि दयानन्द के योग के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करना चाहते हैं कि दयानन्द पहले के योगियों- कृष्ण और शंकराचार्य आदि के समान सिद्ध योगी नहीं थे। वे योग भ्रष्ट योगी थे, अत: उन्होंने मोक्षपद को प्राप्त नहीं किया था।[2] इसलिये पाठकों के भ्रम को दूर करने के लिये

---

1 घुमावदार भाषा में सच्चिदानन्द जी अवतारवाद की दलदल में आर्यों को फँसाने में लगे थे।

2 महर्षि दयानन्द की योग साधना विषयक यह घृणित विचार दीनबन्धु के कुछ बंगाली गुरुओं की सोची समझी चाल थी। उन्होंने योगेश्वर दयानन्द के अडिग ईश्वर विश्वास तथा साधना को अपने गुरुडम के दुर्ग के लिये एक खतरा मानकर यह भ्रम फैलाया। – जिज्ञासु

मैं निवेदन करता हूँ कि ऋषि दयानन्द ने ईश्वर के साक्षात्कार करने के अपने संकल्प से रत्तीभर भी ढील नहीं आने दी और विभूतियों के प्रलोभन की ओर किञ्चित् मात्र भी दृष्टिपात नहीं किया। इसके लिये मैं दो प्रमाण पाठकों के सामने रखूंगा- एक ऋषि दयानन्द की विभूतियों के सम्बन्ध में उदासीनता दूसरा- ऋषि दयानन्द के अपने ग्रन्थों-सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में कहीं विभूतियों का संकेत न होना। 'योगी का आत्मचरित्र' में वर्णन किया हुआ योग विवरण अधिकतर झूठी बातों से, परस्पर विरुद्ध बातों से और पातञ्जल योगशास्त्र और उनके भाष्यों-व्यास भाष्य और भोजवृत्ति के सिद्धान्तों से विरुद्ध है। इन तीनों प्रमाणों को मैं क्रमशः आगे लिखता हूँ।

१-ऋषि दयानन्द कहते हैं- "योग शास्त्र का उपाय ईश्वर के साक्षात् करने पर है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इसमें द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है। योगी विभूति को सिद्ध करता है। यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियां हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, यह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि 'योगी का चित्त' छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषकर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है। उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं। शरीर में इतनी शक्ति नहीं है। इस तरह श्रवण, मनन, निदिध्यासन साक्षात्कार हो जाने से निःसन्देह ज्ञान प्राप्त हो जाता है।" (पूना प्रवचन अर्थात् उपदेश मंजरी प्रवचन ग्यारह पृ0 २१६) ऋषि के स्पष्ट वर्णन से यह सिद्ध हो गया कि दीनबन्धु आदि सांसारिक लोगों की तरह ऋषि दयानन्द विभूतियों का प्रभाव शरीर के ऊपर नहीं मानते थे, **वे विभूतियों का प्रभाव चित्त या मन पर ही मानते थे।** वे शरीर का हल्का, भारी, पहाड़ जितना बड़ा, अणु के बराबर छोटा आदि होना नहीं मानते थे इसलिये उनके नाम से 'योगी का आत्मचरित्र' में यह लिखना सर्वथा झूठ है कि 'विभूतियों की सिद्धि से

योगी इस शरीर से आकाश में या लोक-लोकान्तरों में आना जाना, पानी पर चलना, अणु जैसा छोटा हो जाना, पहाड़ के समान बड़ा हो जाना, रूई के समान हल्का हो जाना, पहाड़ के समान बड़ा हो जाना आदि कर सकता है। ये सब लेख दीनबन्धु जी की अपनी या उनके साथियों की मन की कल्पना है। ऋषि दयानन्द ने कलकत्ते में इस सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा था। इसलिये 'योगी का आत्मचरित्र' का चौथा अध्याय झूठ का पुलन्दा है। सच्चिदानन्द जी ने भी इस झूठी कहानी का समर्थन करके अपने योगी होने का परिचय नहीं दिया। उन्होंने अपने अनुसन्धान में ऋषि के आसन से ऊपर उठकर आकाश में अधर लटकने और पानी पर बैठकेर समाधि लगाने की तथा भूमि को न छू कर ऊपर ऊपर ही रहकर पहाड़ों की यात्रा की बात लिखकर अपने झूठों की संख्या को और बढ़ा दिया है और सच्चिदानन्द जी के झूठ का समर्थन करने वाले कई व्यक्तियों ने जो अपने आपको पण्डित और योगी कहते हैं। अपनी मान्यता का अनुचित प्रयोग किया है जो उनके यश को कलंक लगाने वाले ही हैं।

हठ योग- हठ योग के सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं- "अब हठयोग का वर्णन किया जाता है। हठ योग में 'बस्ती' उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते पानी चढ़ाकर सफाई करना, टकटकी लगाकर इस तरह देखने को कि जिसमें पलक न झपके 'त्राटक' कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा और १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डालकर फिर बाहर निकालने को 'धोती' कहते हैं। यह बाजीगरों का खेल है। इनसे सब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे? यह हठ योग वाले ही जानें? इन व्यायामों से बीमारियाँ पैदा होती हैं।" (उपदेश मञ्जरी पृ० १२०)

हठयोग का हठ : ऋषि के इस प्रवचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हठ योग को बाजीगर का खेल समझते थे। और उन्होंने हठ योग का कभी अभ्यास नहीं किया। इनके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं:-

"इनसे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे? यह हठ वाले ही जानें" परन्तु दीनबन्धु जी ने 'योगी का आत्मचरित्र' में पृ0 ५० से ७१ तक **हठ योग के सीखने की बात ऋषि दयानन्द के मुख से कहलवाई है जो सर्वथा झूठ और जालसाजी है।** दीनबन्धु जी का यह कहना कितना झूठ है? कि योगासन ८४ या बत्तीस प्रकार के हैं ... गुरु जी से मैंने इस प्रकार सौ प्रकार के आसन सीख लिये थे" (यो0 आ0 पृ0 69) जब कि स्वामी दयानन्द जी ने स्वयं ८४ आसनों को गलत बतलाया है। पूना प्रवचन में उन्होंने कहा था:- "आसन वही है कि जिससे सुख से बैठकर ईश्वर से योग किया जा सके। तो फिर नये लोगों का यह कहना कि यह चौरासी आसनों वाला भानमती का तमाशा ठीक है कैसे मान लिया जावे।" इससे यह पता चलता है कि **ऋषि दयानन्द ने ८४ आसन नहीं सीखे और न उनको योगासन माना है।** उन्होंने इनको नये लोगों के मन की उपज बतलाया है। परन्तु शोक है कि आर्य समाज में भानमती का तमाशा दिखाने वाले इन नटों को भी योगी माना जाने लगा है। और उनके इन खेलों को योगासन का नाम दिया जाता है और उनका प्रचार किया जाता है।

अब तो योग भी उद्योग बन चुका है : मैंने आर्य समाज में ऐसे लोगों को देखा है जो अपने आपको योगी और महायोगी कहते हैं। वे अपना ढ़ोंग रचाने के लिये और चेला चेली बनाने के लिये, उनसे पुष्कल धन कमाने के लिये योग शिविर के नाम से लोगों को बुलाते हैं। ये शिविर एक दो सप्ताह के होते हैं। इनमें योगी जी शिष्यों को नटों वाले कुछ खेल सिखाते हैं और उनको योगसाधनों का नाम देते हैं, परन्तु उनमें योग करने की कोई बात नहीं होती, केवल यह बतलाया जाता है कि अमुक आसन से अमुक लाभ होता है। किसी से पेट के दर्द का दूर होना, किसी से सिर का, किसी से आंख का और किसी से मिर्गी दूर होने का। मैं यह नहीं कहता कि इन व्यायामों से कोई लाभ नहीं होता? मेरा **यह कहना है कि इन व्यायामों को 'योगासन' कहना एक धोखा है**

अतः पाखण्ड है। मैंने इन योगाचार्यों को आँखों से देखा है और उनके विज्ञापनों को पढ़ा है। इनमें आनन्द स्वामी, सच्चिदानन्द, ओमानन्द (होशंगाबाद वाले) आचार्य भगवान देव शर्मा (सार्वदेशिक का उपप्रध ान)। इन शिविरों में ऋषि दयानन्द के बताये हुए प्राणयामों का नहीं अपितु तान्त्रिक लोगों के हठ योग कथित प्राणायामों का शिक्षण होता है। यम नियमों का नाम मात्र को संकेत भी नहीं। शिविरों में स्त्री और पुरुषों दोनों को शिक्षण दिया जाता है, सीखने वालों के आसनों को ठीक करने के लिये उनके अंगों को भी छुआ जाता है। विश्राम के समय उनसे पैर भी दबवाये जाते हैं। पैर दबाने में महिलाओं की श्रद्धा अधिक बढ़ी हुई होती है, धन की अपील भी होती है, वह सौ पचास की नहीं, लाखों की होती है, क्योंकि योग शिक्षार्थियों के लिये इतने कमरों की आवश्यकता, इत्यादि। इन शिविरों का परिणाम यह होता है कि शिक्षार्थियों के अंदर पहले जो श्रद्धा और सदाचार की भावना थी वह भी समाप्त हो जाती है। मुझे ऐसे कई शिक्षार्थी मिले हैं जिन्होंने अपनी कथा सुनाई। इन शिविरों के योगाचार्यों के कच्चे चिट्ठे कुछ तो हमने स्वयं देखे हैं और कुछ सुने हैं। परन्तु दुःख इस बात से होता है कि आर्य समाज के अन्दर हजारों सच्चे, ईमानदार और सदाचारी महापुरुषों के होते हुए इन पाखण्डियों से सीधी साधी जनता को बचाने के लिये प्रयत्न क्यों नहीं हो रहा है।

ऋषि दयानन्द का उपासना-योग : योग साधना के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का अभिमत क्या था? इसको उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'उपासना विषय' और 'मुक्ति विषय' में स्पष्ट कर दिया है। ऋषिवर सब विद्याओं का मूल वेद को मानते थे। वेद को ईश्वरकृत होने के कारण स्वतः प्रमाण भी मानते थे। और वेदातिरिक्त सब पुस्तकों को वे परतः प्रमाण मानते थे। योग विद्या का मूल भी वेद को मानते थे। इसलिये ही योग विद्या के स्वरूप, उद्देश्य, उपाय और साधनों को उन्होंने वेद मन्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध किया है। वेद मन्त्रों के प्रामाण्य से ही उन्होंने योग दर्शन के सूत्रों को प्रमाणिकता दी है। स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद,

यजुर्वेद और अथर्ववेद के १६ मन्त्रों को इस ग्रन्थ में उद्धृत करके उनकी संस्कृत और आर्य भाषा में व्याख्या की है। योग का लक्षण इस प्रकार किया:- "जो लोग ईश्वर के उपासक अर्थात् बड़े-बड़े बुद्धिमान् उपासना योग के ग्रहण करने वाले हैं। वे सबको जानने वाला, सबसे बड़ा, और सब विद्याओं से युक्त जो हैं, तथा अपनी बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्तियां) अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर में ही स्थिर करते हैं ।।१।।" योग का (चित्तवृत्तिनिरोध का) उद्देश्य क्या है? इसके सम्बन्ध में लिखा है:- **'योग करने वाले मनुष्य तत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं।** पृथ्वी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ।।२।। सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्ष के लिये यथायोग्य सामर्थ्य के बल से **परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके** आत्मा को शुद्ध करें। कि जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश रूप आनन्द को प्राप्त हों ।।३।।... परन्तु जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष सुख देके सदा के लिये आनन्द युक्त कर देगा ।।४।। ... फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूँ कि हे मोक्ष मार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो ! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इस लिये मैं तुमको उपासना योग में युक्त करता हूँ ।।५।। जो विद्वान् योगी लोग, और ध्यान करने वाले हैं, वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर को धारण करते हैं, जो योग युक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ।।६।। हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को विस्तार करो

.. तुम ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फल को प्राप्त होवें। और हमको ईश्वर के अनुग्रह से यह फल शीघ्र ही प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ, और मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। अर्थात् वह उपासना योगवृत्ति कैसी है? कि सब क्लेशों का नाश करने वाली और सब शान्ति आदि गुणों से परिपूर्ण है। उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ।।७।। हे परमैश्वर्य युक्त मंगलमय परमेश्वर! आपकी कृपा से मुझको उपासना योग प्राप्त हो, तथा उससे मुझको सुख भी मिले, इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रियां, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल ये अठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासना योग को सदा सेवन करें ।।८।। मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है। इसलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं ।।६।।"

उपर्युक्त मन्त्रों की व्याख्या को पढ़कर पाठकों को पता चलना चाहिये कि वेद में योग का लक्षण यह है कि जिसमें मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को संसार के विषयों से हटाकर ईश्वर के चिन्तन में स्थिर करे। चित्त की वृत्तियों को ईश्वर के चिन्तन में लगाने का उद्देश्य यह है कि ईश्वर का साक्षात्कार हो जावे और ईश्वर के साक्षात्कार का फल यह है कि मनुष्य सब दुःखों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर सके। योग के उपाय ईश्वर की स्तुति प्रार्थना, और उपासना निरन्तर अनन्य भाव से करता रहे। स्वयं ऋषि दयानन्द ने वेद मन्त्रों की व्याख्या के पश्चात् लिखा है-

'जब जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध, और आत्मा को स्थिर करें। तथा **सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी** अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा

की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करें, फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बारम्बार करके, अपने आत्मा को भली भाँति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेद व्यास मुनि जी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं:- (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं।'' इसके आगे ऋषि लिखते हैं- निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठति इत्यत्रोच्यते (निरुद्ध हुई वह वृत्ति कहां ठहरती है) 'तदाद्रष्ट: स्वरूपेऽवस्थानम् (भाष्यम्) यदा सर्वस्माद् व्यवहारात् मनोऽवरुध्यत तदास्योपसकस्य मनोद्रष्टु सर्वज्ञस्य स्वरूपे स्थिति लभते। मन की वृत्ति जब रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। महर्षि द्वारा वेद मन्त्रों की व्याख्या और योग दर्शन के इन दो सूत्रों के भाष्य से योग के सम्बन्ध में ऋषि के मन्तव्य का स्पष्ट पता चल गया कि ऋषिवर उन ही उपायों को योग मानते थे जिनके द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों को ईश्वर के स्वरूप में स्थिर किया जा सके। इसके अतिरिक्त उपायों को ऋषिवर योग नहीं मानते थे। महाराज ने इसी योग साधना के लिये ऋ0आ0भा0भू0 में पातञ्जल योगशास्त्र के १९५ सूत्रों में से ६३ सूत्रों को चुन लिया है। उन सूत्रों में २३ सूत्र समाधिपाद के हैं जिनमें केवल ईश्वर प्रणिधानके उपायों का वर्णन किया गया है। सम्प्रज्ञात् समाधि का जिसका सम्बन्ध विभूतियों से है ऋषिवर ने संकेत नहीं किया। २३ सूत्र साधनापाद के हैं जिनमें अष्टाङ्ग योग के द्वारा ईश्वर के स्वरूप में लय होने के लिये अभ्यास की विधि है। **स्वामी जी ने योग के आठ अङ्गों को भी 'उपासनायोगङ्ग' लिखा है।** इससे भी यही सिद्ध होता है कि स्वामी जी उपासना योग को ही 'योग' मानते थे। ४ सूत्र विभूति पाद के हैं जिनका सम्बन्ध ईश्वर के साथ युक्त हो जाने से है। इस प्रकार से योगशास्त्र में से कुल ५१ सूत्र ऋषिवर ने उपासना योग के लिये चुने हैं जिनके द्वारा अभ्यास करने से मनुष्य जीवन का उद्देश्य अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार और सब दु:खों से छूटकर

मोक्ष आनन्द की प्राप्ति होती है। ऋषि दयानन्द ने इसी उपासना योग को सिद्ध योगियों से सीखा था और उसी का अभ्यास किया था, जिससे वे निहाल हो गये थे और इस लिये ही उन्होंने अपने अनुभूत उपासना योग को अपने अनुपम ग्रन्थों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि में लिखा ताकि संसारिक लोग भी इन लेखों को पढ़कर, मनन करके निदिध्यासन द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करके भवसागर से तर जायें। वे विभूतियों के चक्कर में नहीं पड़े। क्योंकि विभूतियों का चक्कर तो 'आवर्त्तजाल' है जिससे निकलना बड़ा कठिन है। स्वयं पतञ्जलि ऋषि ने लिखा है:- ''ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: ।३ ।३६ । वे (प्रातिभादि विभूतियां) समाधि सिद्धि में विघ्न हैं और व्यवहार काल में सिद्धियां। ऋषि दयानन्द ने व्यवहार करने में इनकी आवश्यकता ही नहीं समझी तो फिर अपनी समाधि की सिद्धि के लिये इस विघ्न रूपी बीमारी को क्यों खरीदते? **सच्चिदानन्द जी ने ऋषि दयानन्द जी द्वारा तिरस्कृत श्रीमद्भगवत् पुराण को वेद के तुल्य प्रामाणिक मानते** हुए उसका एक श्लोक दिया है:- ''अन्तरायान् वदन्त्येता, युञ्जतो योगमत्तयम'' । यथा सम्पद्यमानस्य कालक्षेपणहेतव: ''श्रीमद् भागवत् अ० १५ श्लोक ३३''

विभूतियाँ समय का नाश : अर्थात् उत्तम योग साधक के लिये सिद्धियां भी पीछे विघ्न हो जाती हैं, प्रभु को प्राप्त करने वाले के लिये तो यह समय नाश ही है।'' सच्चिदानन्द के मुख से पता नहीं यह सत्य कैसे निकल गया? तथापि यह सिद्ध हो गया कि ऋषि दयानन्द जैसे ईश्वर भक्त के लिये यह सम्भव नहीं था कि वे अपने अमूल्य समय को विभूतियों के खेल में नष्ट करते! महर्षि दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जो 'उपासना योग' का वर्णन किया है वह सर्वांग पूर्ण और जीता जागता योग है, जो ईश्वर के साक्षात्कार कराने और मोक्ष प्राप्त कराने में पूर्णतया समर्थ हैं। परन्तु 'योगी का आत्मचरित्र' में ऋषि दयानन्द के नाम से जिस योग का वर्णन किया गया है वह एक ऐसा गोलमटोल

निर्जीव पिण्ड के समान है जिसके सिर पैर कटे हुए हों और सब अंग क्षत विक्षत हों! ऋषि दयानन्द जी महाराज ने योग के लक्षण करते हुए लिखा है:- **'चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाकर शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं।'** परन्तु दीनबन्धु जी ने योग के लक्षण ये किये हैं:- चित्त वृत्ति का निरोध करना ही योग है। दीनबन्धु जी के इस वाक्य से पाठक क्या समझ सकता है? चित्त क्या है? चित्त की वृत्ति क्या है? और निरोध किसे कहते हैं? पाठक इस लक्षण से कुछ नहीं समझ सकते! ऋषि दयानन्द के भाष्य को देखिये? सब समझ में आ जायेगा।

प्रत्येक मनुष्य जब विषय का प्रतिपादन करता है तो पहले उसके लक्षण बतलाता है, फिर प्रमाणों से उसे सिद्ध करता है, परन्तु दीनबन्धु जी ने अपनी पुस्तक में योग के सम्बन्ध में ऊल जलूल बातों से ५० पृष्ठ भर दिये, उसके पश्चात् यह गोलमटोल लक्षण लिख दिया जिससे समझ में कुछ न आवे। चित्त की वृत्ति क्या है? इसके सम्बन्ध में कहा है:- 'चित्त के स्रोत का नाम ही चित्तवृत्ति है। कामना ही चित्तवृत्ति है।' इससे कोई क्या समझेगा? महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति पांच प्रकार की बतलाई है- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति और हर एक योग का विद्यार्थी इस बात को जानता है। महर्षि दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थ के अन्दर इनकी व्याख्या की है। परन्तु दीनबन्धु जी ने अपनी पुस्तक के पृ0 १३२ पर लिखा है 'मनुष्यों की मनोवृत्तियां पांच भागों में विभक्त हैं:- १ क्षिप्त, २ मूढ, ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र, ५ निरुद्ध'। योग दर्शन व्यास भाष्य के पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि व्यास जी ने इनको चित्त की भूमिका लिखा है न कि चित्तवृत्तियों के विभाग। योग का या चित्त की वृत्तियों के निरोध का उद्देश्य क्या है? इसके लिये योग शास्त्र १।३ में लिखा है- 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ऋषि दयानन्द ने इसके भाष्य में लिखा है:- 'यदासर्वस्माद् व्यवहारात् मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थिति लभते'। अर्थात् जब मनुष्य का मन

सब व्यवहारों से रुक जाता है तब इस उपासक का मन सर्वज्ञ ईश्वर के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह है योग साधना का उद्देश्य। परन्तु 'योगी का आत्मचरित्र' के योग प्रकरण के सारे पृष्ठों और पंक्तियों को अच्छी प्रकार से टटोल कर देखें कि योग दर्शन का यह उद्देश्य सूत्र कहीं दृष्टिगोचर होता है या नहीं? मैंने तो अच्छी तरह टटोला, परन्तु मुझे यह सूत्र या इसका भाव कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। बिना उद्देश्य के किसी काम में टक्कर मारना मूर्खों का काम होता है। इस मूर्खता को ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ना महापाप है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि से ईश्वर की प्राप्ति ही सारी योग क्रियाओं और साधनों का उद्देश्य है। यदि इन क्रियाओं और साधनों से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती तो ये सब साधनाएँ और क्रियाएँ मुर्दा लाशें है। जिनको जला देना, जंगल में फैंक देना या भूमि में दबा देना ही श्रेयस्कर है। इस पुस्तक से बढ़कर अनर्गल, व्यर्थ और झूठी पुस्तक मैंने अब तक योग के सम्बन्ध में नहीं पढ़ी। मैं सच्चिदानन्द योगी और उनके साथी सभी योगीराजों से पूछता हूँ कि वे बतलाएं कि क्या समापत्ति नाम की चार समाधियों में से निर्वितर्का समाधि में सूक्ष्म भूतों का प्रत्यक्ष होता है? जैसा कि दीनबन्धु जी ने अपनी पुस्तक के पृ० ११५ में लिखा है:- "निर्वितर्का समापत्ति में स्थलभूतों के सूक्ष्मतम अंश का प्रत्यक्ष होता है। स्थूलभूतों का यह ही सबसे ज्यादा सूक्ष्मांश है। इसी का नाम शब्द तन्मात्रा है। यथा शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा।" यदि सच्चिदानन्द जी ने योग दर्शन और उसका व्यास भाष्य देखा है तो उसमें जो यह लिखा है:- 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता- (यो० द० १।४४) तत्र भूत सूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकाल निमितानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते।" अर्थात् उनमें प्रकट रूप सूक्ष्म भूतों में देशकाल निमित्त और अनुभव सहितों में जो समापत्ति होती है वह 'सविचारा' कही जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मभूतों का प्रत्यक्ष सविचारा समाधि में होता है, 'निर्वितर्का' समाधि में नहीं।

योगदर्शन के अगले सूत्र में अर्थात् १।४५ में 'सूक्ष्मविषयत्व चालिङ्गपर्यवसानम्' इसके व्यास भाष्य में लिखा है:- 'पार्थिवस्याणोर्गन्ध तन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः' पृथ्वी का सूक्ष्मभूत अर्थात् गन्ध तन्मात्र सूक्ष्म विषय है' इससे आगे रसतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्द तन्मात्रों को सूक्ष्म विषय में गिनाया गया है जिनका प्रत्यक्ष 'सविचारा' समापत्ति से होता है परन्तु दीनबन्धु जी ने इनका प्रत्यक्ष 'निर्वितर्का' समापत्ति से बतलाया है जो बड़ी मोटी गलती है जिसको योग का प्रारम्भिक विद्यार्थी भी नहीं कह सकता, परन्तु इन झूठे लोगों की जोड़ी ने इतनी बड़ी मूर्खता को ऋषि दयानन्द के सिर मढ़ने का दुष्पाप किया है। इस प्रकार की सैकड़ों झूठी और गलत बातों से यह प्रकरण भरा हुआ है, परन्तु समयाभाव और पुस्तक में स्थानाभाव के कारण उनका लिखना सम्भव नहीं।

ये भीतरघात करने वाले : अन्त में आर्य जनता को सावधान करना चाहता हूँ कि इन दोनों व्यक्तियों में से एक तो ईसामसीह का वकील है जो 'ईसा' को वेद प्रचारक वेद, पन्थी, सत्यवादी, महाविद्वान्, कुशलवक्ता और सिद्ध योगी बतलाकर सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास में 'ईसा' के ऊपर ऋषि दयानन्द के आक्षेपों को और पं0 लेखराम जी जैसे विद्वानों द्वारा ईसाइयत के खण्डन को व्यर्थ करना चाहता है क्योंकि वह हृदय से ब्रह्मसमाज का उपदेशक है। और दूसरे सच्चिदानन्द जी श्रीमद्भागवत् आदि पुराणों के वकील बनकर ऋषि दयानन्द द्वारा सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में श्रीमद्भागवत की कटु आलोचना और अवतारवाद के तीव्र खण्डन को व्यर्थ सिद्ध करना चाहते हैं। अपने अनुसन्धान में श्रीमद्भागवत् के ४७ श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें कृष्ण को ईश्वर का अवतार ही नहीं अपितु ईश्वर सिद्ध किया गया है ब्रह्म के अवतारों का वर्णन है। पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर शिव के गले में रुण्डमुण्डों की माला, सांपों का उनके गले में लिपटे रहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि वे पुराणों की कथाओं को सच्चा सिद्ध करके सत्यार्थ प्रकाश

के ग्यारहवें समुल्लास को निरर्थक सिद्ध करना चाहते हैं। इनकी पीठ पर एक ऐसा वर्ग भी है जो देखने में तो आर्य प्रतीत होता है, परन्तु उनकी विचारधारा ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त के विपरीत चल रही है। यदि ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयाइयों ने होश न सम्भाला तो आने वाला समय आर्य समाज के सामने बड़ी कठिन समस्याएँ खड़ी कर देगा।

सत्य हों संकल्प मेरे कर्म हों पावन पुनीत।
हंसते हंसते जग से जाऊं गाते गाते तेरे गीत ।।

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीराः। भर्तृहरि नीति शतक
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रामन्त्यृषयोह्याप्ताकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।

मुण्डक उपनिषद्

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ।।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजीज्जोवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखः दुःखे त्वनित्ये जीवोनित्यो हेतुरस्य त्वनित्य।।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

महाभारत